कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

'मास्टर' मणिमालायाः २१३ संख्यको मणिः

(आख्यायिकाविभागे २)

सर्वविधपूर्वमध्यमपरीक्षायां निर्धारितम्

श्रीविष्णुशर्मसङ्कलितम्

पञ्चतन्त्रम्

प्रथमं तन्त्रम्

[भाषाटीकासहितम्]

टीकाकारः—

श्रीमन्नालाल अभिमन्युः, एम० ए०

प्रकाशकः—

मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स

संस्कृत बुकडिपो,

कचौड़ीगली, बनारस—१

१९५५ ई०] [मूल्यम् २)

'मास्टर' मणिमालायाः २१३ संख्यको मणिः (आख्यायिकाविभागे २)

श्रीविष्णुशर्मसङ्कलितम्

पञ्चतन्त्रम्

तस्य

मित्रभेदो नाम

प्रथमं तन्त्रम्

[भाषाटीकासहितम्]

टीकाकारः—

श्रीमन्नालाल अभिमन्युः, एम० ए०

प्रकाशकः—

मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स

संस्कृत बुकडिपो,

कचौड़ीगली, बनारस—१

—:०:—

१९५५ ई०]

[मूल्यम् २)

प्रकाशकः—

बी० एन० यादव प्रोप्राइटर,

मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स,

संस्कृत बुकडिपो,

कचौड़ीगली, बनारस—१ ।

मुद्रकः—

मास्टर प्रिण्टिङ्ग वर्क्स,

बुलानाला, काशी ।
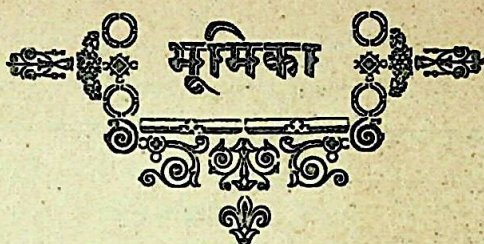
'अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्' इति दण्ड्याचार्यवचनात् केचित् 'आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या' इत्याहुः, तदयुक्तम्, आख्यानादयश्च कथाऽऽख्यायिकयोरेवान्तरभावान्न पृथगुक्ताः, यदुक्तं दण्डिनैव 'अत्रैवाऽन्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाऽऽख्यानजातयः ।' एषामुदाहरणम्—पञ्चतन्त्रादि । ——— विश्वनाथः ।

मानव जीवन की कठिनाइयों को सरल करनेवाला, आपत्तियों का निराकरण करनेवाला, मित्रों के प्रति नीति का आचरण बतलानेवाला, चित्त रूपी उर्वरा भूमि में शस्य श्यामला उगानेवाला, गार्हस्थ्य धर्म का परिज्ञान करानेवाला, तथा जीवन की घटनाओं की विशद विवेचना करनेवाला यदि कोई साहित्य है तो वह आख्यायिका है ।

आख्यायिका रूप साहित्य कोई नवीन नहीं है । महाभारत आदि प्राचीन साहित्य में इसके प्रमाण मिलते हैं । बौद्धजातकों में भी इस प्रकार की सहस्रों आख्यायिकाएँ पायी जाती हैं । केवल उनका सम्बन्ध गौतम बुद्ध के जीवन के साथ जोड़ दिया गया है । इससे स्पष्ट है कि ईस्वी शती के कई सौ वर्ष पूर्व इस साहित्य की परम्परा स्थापित हो चुकी थी । इस प्रकार के साहित्य द्वारा लेखकों का ध्येय रहता था कि भारतीयों के कोमलमति बालक, नीतिशास्त्र के गहनारण्य के पथ से पूर्ण परिचित हो जाँय ।

आख्यायिकाओं से बालकों का यथेष्ट मनोरञ्जन होता है । इस कारण उसके द्वारा नीतिशास्त्र की शिक्षा देने की परिपाटी भारत में प्रचलित हुई । वस्तुतः इसी कारण इसका महत्त्व भी बढ़ा है । इस प्रकार की आख्यायिकाओं से इतिहास के समान समस्त विषय अत्यन्त सुलभता के साथ सिखलाये जा सकते हैं । वे ही आख्यायिकाएँ श्रेष्ठ मानी गयी हैं जिनमें मनोरञ्जन के साथ समस्त भारतीय आचार-विचारों एवं नीति की निर्झरिणी हो । साहस, स्वदेश,

स्वभाषा, स्वधर्म, स्वसंस्कृति, उद्यम आदि के विषय में उचित अभिमान जाग्रत करना आख्यायिकाओं का प्रधान उद्देश्य है और मानव मनोवृत्तियों और समाज का कल्याण होता है। कुछ ऐतिहासिक आख्यायिकाएँ होती हैं। कुछ आख्यायिकाओं से नीतितत्त्वों का परिज्ञान होता है, सत्-असत्-कृत्यों के परिणाम मालूम किए जाते हैं और उनसे आचरण पर अच्छा संस्कार पड़ता है। ये उपदेशप्रद आख्यायिकाएँ हैं। इनके अध्ययन से मनोरञ्जन के साथ-साथ मन अच्छे मार्ग की ओर झुकता है। व्याख्यान से अथवा तात्त्विक विवेचन से नीतितत्त्वों का महत्त्व चाहे जितना बतलाया जावे तथापि वह स्थूल बुद्धि के प्राणी को नीरस एवं रुक्ष प्रतीत होता है। पर उसी 'सिद्धान्त' को वह पशु-पक्षियों पर ढालकर रचे हुए कहानीसाहित्य से अच्छी तरह समझ लेता है। उसे व्यावहारिक ज्ञान का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक पञ्चतन्त्र उपदेशप्रद आख्यायिका की कोटि का है। पञ्चतन्त्र—मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश एवं अपरीक्षित कारक—इन पाँच तन्त्रों में विभक्त है।

इसके सङ्कलनकर्ता विष्णुशर्मा ने ८० वर्ष की अवस्था में महिलारोप्य (मद्रास के मायलापुर नामक स्थान) के राजा अमरशक्ति के तीन मूर्ख राजकुमारों को राजनीति का व्यावहारिक ज्ञान देने के लिए मनु, बृहस्पति, नारद, शुक्र, पराशर, व्यास, विष्णुगुप्त आदि आचार्यों के राजशास्त्र और अर्थ-शास्त्रों का मन्थन कर इस अनुपम साहित्य का सृजन किया। यह कब सङ्कलन किया गया यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। किन्तु कौटिलीय अर्थशास्त्र, बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र, वराहमिहिर आदि के श्लोकों का प्रमाण आने से प्रतीत होता है कि सम्भवतः खीष्टीय चौथी अथवा पाँचवीं शती के लगभग इसका संकलन किया गया होगा।

पञ्चतन्त्र छठी शती के पूर्वार्द्ध में इतना लोकप्रसिद्ध हो गया कि एतद्देशीय विद्वानों की कौन कहे—भारत के पड़ोसी राज्यों एवं यूरोप के राज्यों में इसका यथेष्ट आदर हुआ। ईरान देश के सम्राट् खुसरो अनुशीर्वन् (५३१–५७९ ई०) ने अपने राजवैद्य बरजूयः को भारत भेजा। वह ५५० ई० में यहाँ आया

और पञ्चतन्त्र की पुस्तक को ले गया। अनन्तर उसके मन्त्री बुज़र-चु-मिहिर की अध्यक्षता में पहलवी भाषा में इसका अनुवाद हुआ। उसके बाद ५७० ई० में पहलवी पंचतन्त्र का सीरिया देश की प्राचीन भाषा में अनुवाद हुआ। फिर अब्बास वंश के दूसरे खलीफा अबुल ज़फ़र—मंसूर के आदेश से इमाम अबुल हसन ने अरबी में अनुवाद किया। शमन वंश के राजा अबुल हसन नसरुद्दीन अहमद की आज्ञा से फारसी में इसका अनुवाद हुआ। सुलतान मोहम्मद सुबुक्तगीन के लिए रुदसी ने पद्यानुवाद किया। अबुल मुजफ्फर बहरामशाह की आज्ञा से अबुलमाला नसरुल्ला ने अरबी से गद्यानुवाद किया। मुगल-सम्राट् अकबर ने अपने प्रसिद्ध कवि अबुल फजल द्वारा फारसी में अनुवाद कराया। अरबी अनुवाद की लोकप्रियता जब यूरोपीय देशों में बढ़ी तब हिब्रू (११५० ई०), ग्रीक (११८०), लैटिन (१२६०–१२७० के बीच), स्पेनिश भाषा (१२५१ ई०), में इतालवी भाषा (१५५२ ई०) आदि में इसके अनुवाद धड़ाधड़ होने लगे। सर टामस नार्थ कृत (१५७० ई०) अंग्रेजी अनुवाद, कोशेमार्तन, वान (१८४८ ई०), कीलहार्न बूलर, बेनफी कृत अनुवाद, लिपजिग जर्मनी (१८५९ ई०), अंग्रेजी अनुवाद त्रिचिनापोली (१८८७ ई०), फीट्ज कृत जर्मन अनुवाद (१८८४ ई०), मनकौशिकी कृत लिपजिग जर्मनी (१८९२ ई०); जे० हरतेल द्वारा सम्पादित काश्मीरी तन्त्राख्यायिका (१९१० ई०), एफ० एजर्टन् कृत (१९२४ ई०) अनुवाद दर्शनीय हैं।

स्वतन्त्र भारत के छात्रों के लिए पञ्चतन्त्र का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि यह भारत की विविध परीक्षाओं में निर्द्धारित किया गया है। सम्प्रति भाषाटीका सहित यह प्रथम तन्त्र प्रकाशित किया जा रहा है। शेष तन्त्र भी शीघ्र ही प्रकाशित किये जायंगे। यदि इससे विद्यार्थियों का रञ्चमात्र भी उपकार हुआ तो हम अपने परिश्रम को सफल समझेंगे।

विनीत—

मन्नालाल अभिमन्यु

मित्रभेदस्य कथानामनुक्रमणिका

विषयाः	पृष्ठाङ्काः

---

* श्रीः *

पञ्चतन्त्रम् ।

भाषाटीकासहितम् ।

कथामुखम् ।

श्री गणपति-पदकमलयुग, सुमिरि शारदा-नाम ।
पञ्चतन्त्र-भाषा लिखत, शिशुमुद हेतु ललाम ॥

ब्रह्मा रुद्रः कुमारो हरिवरुणयमा वह्निरिन्द्रः कुवेर-
श्चन्द्रादित्यौ सरस्वत्युदधियुगनगा वायुरुर्वी भुजङ्गाः ।
सिद्धा नद्योऽश्विनौ श्रीर्दितिरदितिसुता मातरश्चण्डिकाद्या
वेदास्तीर्थानि यज्ञा गणवसुमुनयः पान्तु नित्यं ग्रहाश्च ॥ १ ॥

ब्रह्मा, शङ्कर, कार्त्तिकेय, विष्णु, वरुण, यम, अग्नि, देवराज इन्द्र, कुवेर, चन्द्र, सूर्य, सरस्वती, सागर, युग (कृत, त्रेता, द्वापर, कलि), पर्वत, पवन, पृथ्वी, नागराज, वासुकि आदि, कपिलादि सिद्ध, नदी, अश्विनीकुमार (द्वय), लक्ष्मी, दिति, देवता, चण्डिका प्रभृति माताएँ, वेद (ऋक्, यजुः, साम, अथर्व), तीर्थ, यज्ञ, गण, वसु (धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष तथा प्रभास), मुनि (व्यासादि) और ग्रह (नव) ये नित्य रक्षा करें ॥ १ ॥

मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय ।
चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्यः ॥ २ ॥

मनु, बृहस्पति, शुक्राचार्य, पुत्र (व्यास) के सहित महर्षि पराशर, विद्वान् चाणक्य तथा नीतिशास्त्र के रचयिताओं के प्रति नमस्कार है ॥ २ ॥

सकलार्थशास्त्रसारं जगति समालोक्य विष्णुशर्मेदम् ।
तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम् ॥ ३ ॥

इस संसार में सम्पूर्ण अर्थशास्त्र के निष्कर्ष की समालोचना कर विष्णुशर्मा ने पाँच तन्त्रों से इस मनोहर शास्त्र की रचना की है ॥ ३ ॥

तद्यथानुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तत्र सकलार्थिकल्पद्रुमः प्रवरमुकुटमणिमरीचिमञ्जरीचर्चित-चरणयुगलः सकलकलापारङ्गतोऽमरशक्तिर्नाम राजा बभूव । तस्य त्रयः पुत्राः परमदुर्मेधसो बहुशक्तिरुग्रशक्तिरनन्तशक्तिश्चेति नामानो बभूवुः । अथ राजा ताञ्शास्त्रविमुखानालोक्य सचिवानाहूय प्रोवाच—भोः, ज्ञातमेतद्भवद्भिर्यन्ममैते पुत्राः शास्त्रविमुखा विवेकरहिताश्च । तदेतान् पश्यतो मे महदपि राज्यं न सौख्यमावहति ।

ऐसा सुना जाता है कि—दक्षिण देश में एक महिलारोप्य नाम का नगर है । वहाँ सम्पूर्ण याचकों के लिए कल्पवृक्ष के तुल्य, सर्वश्रेष्ठ राजाओं की मुकुट-मणि की किरणों के समूह से पूजित है जिसका चरण युगल ऐसा, सम्पूर्ण कला-कोविद अमरशक्ति नाम का राजा था । उनके अत्यन्त दुष्ट बुद्धिवाले तीन पुत्र हुए जिनके नाम थे--बहुशक्ति, उग्रशक्ति और अनन्तशक्ति । उनको शास्त्र से विमुख देखकर राजा ने मन्त्रिसमूह को बुलाकर कहा—"यह तो आप लोगों को मालूम ही है कि ये मेरे पुत्र शास्त्र-ज्ञान से रहित एवं निर्बुद्धि हैं । अतः इनकी दशा देखते हुए मुझे इतने बड़े राज्य से भी सुख की प्राप्ति नहीं होती" ।

अथवा साध्विदमुच्यते—

अथवा, यह ठीक ही कहा है—

अजातमृतमूर्खेभ्यो मृताजातौ सुतौ वरम् ।
यतस्तौ स्वल्पदुःखाय यावज्जीवं जडो दहेत् ॥ ४ ॥

न उत्पन्न हुए, उत्पन्न होकर मर गए, एवं मूर्ख—इन पुत्रों में न उत्पन्न हुए और उत्पन्न होकर मर गए बल्कि अच्छे हैं क्योंकि वे अत्यन्त अल्प दुःख देते हैं और मूर्ख तो जीवनपर्यन्त जलाता रहता है ॥ ४ ॥

वरं गर्भस्रावो वरमृतुषु नैवाभिगमनं
वरं जातः प्रेतो वरमपि च कन्यैव जनिता ।

वरं वन्ध्या भार्या वरमपि च गर्भेषु वसति-
र्न चाविद्वान् रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि तनयः ॥ ५ ॥

बल्कि गर्भ का पतन हो जाना अच्छा है, ऋतुकाल में भार्या के सन्निकट गमन न करना अच्छा है, उत्पन्न होते ही मृत्यु हो जाना अच्छा है, अथवा कन्या का होना भी अच्छा है, पत्नी का वन्ध्या होना ही अच्छा है अथवा गर्भ में ही रहना श्रेयस्कर है किन्तु रूप श्री-गुणयुक्त होते हुए भी अविद्वान् पुत्र अच्छे नहीं हैं ॥ ५ ॥

किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न भक्तिमान् ? ॥ ६ ॥

उस गौ से क्या लाभ जो न तो वत्स उत्पन्न करती है और न दूध ही देती है ! उसी प्रकार उस पुत्र से क्या लाभ जो न विद्वान् है और न भक्तिमान् है ॥

वरमिह वा सुतमरणं मा मूर्खत्वं कुलप्रसूतस्य।
येन विबुधजनमध्ये जारज इव लज्जते मनुजः ॥ ७ ॥

इस लोक में पुत्र की मृत्यु हो जाना बल्कि अच्छा है किन्तु कुल में उत्पन्न पुत्र का मूर्ख होना ठीक नहीं। जिसके द्वारा पण्डितों के बीच, जार द्वारा उत्पन्न की भाँति, मनुष्य लज्जित होता है ॥ ७ ॥

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससंभ्रमा यस्य।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति ? ॥ ८ ॥

गुणियों की गणना के आरम्भ में जिसके नाम पर अँगुली शीघ्रता के साथ नहीं पड़े उस पुत्र से यदि उसकी माता पुत्रवती है तो बतलाओ ! फिर वन्ध्या किस प्रकार की स्त्री होगी ? ॥ ८ ॥

तदेतेषां यथा बुद्धिप्रकाशो भवति तथा कोऽप्युपायोऽनुष्ठीयताम्। अत्र च मद्दत्तां वृत्तिं भुञ्जानानां पण्डितानां पञ्चशती तिष्ठति। ततो यथा मम मनोरथाः सिद्धिं यान्ति तथाऽनुष्ठीयताम्' इति।

इसलिए इनमें जिस प्रकार बुद्धि का विकास हो वैसा कोई उपाय आप लोग करें, यहाँ पर मेरे द्वारा दी हुई वृत्ति को भोगने वाले पाँचसौ पण्डित हैं। अतः मेरी आकांक्षाएँ जिस प्रकार फलवती हों वैसा अनुष्ठान करें।'

तत्रैकः प्रोवाच—'देव, द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते। ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि, कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि। एवं च ततो धर्मार्थकामशास्त्राणि ज्ञायन्ते। ततः प्रतिबोधनं भवति।'

उनमें से एक ने कहा—'राजन्! बारह वर्ष में व्याकरण का अध्ययन होता है, तत्पश्चात् मनु आदि के धर्मशास्त्र, चाणक्यादि के अर्थशास्त्र, वात्स्यायन के कामशास्त्र, तदनन्तर धर्म, अर्थ, तथा कामशास्त्र पढ़ा जाता है। तद् परिज्ञान होता है।'

अथ तन्मध्यतः सुमतिर्नाम सचिवः प्राह—'अशाश्वतोऽयं जीवितव्यविषयः प्रभूतकालज्ञेयानि शब्दशास्त्राणि। तत्संक्षेपमात्रं शास्त्रं किञ्चिदेतेषां प्रबोधनार्थं चिन्त्यतामिति। उक्तं च यतः—

तब उनमें से एक सुमति नाम के मन्त्री ने कहा—यह जीवन अनित्य है और शब्दशास्त्र (व्याकरण) का ज्ञान अधिक काल के अनन्तर होता है। अतः इनके ज्ञान के लिये संक्षेप शास्त्र को विचार कर कहिए। क्योंकि कहा भी है—

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥ ९॥

शब्दशास्त्र (व्याकरण) का पार नहीं, अवस्था अल्प एवं विघ्न बहुत हैं। अतः सार को लेकर सारहीन को छोड़ देना चाहिये, जिस प्रकार हंस जल में से दूध निकाल लेते हैं॥ ६॥

तदत्रास्ति विष्णुशर्मा नाम ब्राह्मणः सकलशास्त्रपारंगमश्छात्रसंसदि लब्धकीर्तिः। तस्मै समर्पयतु एतान्। स नूनं द्राक् प्रबुद्धान् करिष्यति' इति।

यहाँ एक विष्णुशर्मा नामके ब्राह्मण हैं जो सब शास्त्रों में कुशल एवं विद्यार्थियों में लब्ध-प्रतिष्ठ हैं। अत एव उन्हीं को इन पुत्रों को समर्पण कर दीजिए। वह निश्चय ही इनको शीघ्र बुद्धिमान् बना देंगे।

स राजा तदाकर्ण्य विष्णुशर्माणमाहूय प्रोवाच—'भो भगवान्,

मदनुग्रहार्थमेतानर्थशास्त्रं प्रति द्रागयथानन्यसदृशान् विदधासि तथा कुरु। तदाहं त्वां शासनशतेन योजयिष्यामि'।

राजा ने यह बात सुनकर विष्णुशर्मा को बुलाकर कहा—'भगवन्! जिस प्रकार हो मेरे इन पुत्रों को शीघ्रही अर्थशास्त्र में निपुण बनाइये। आप को बड़ी कृपा होगी। आप को सौ गाँव का मालिक बना दूँगा।*

अथ विष्णुशर्मा तं राजानमूचे-'देव, श्रूयतां मे तथ्य-वचनम्। नाहं विद्याविक्रयं शासनशतेनापि करोमि। पुनरेतांस्तत्र पुत्रान् मास-षट्केन यदि नीतिशास्त्रज्ञान् न करोमि, ततः स्वनामत्यागं करोमि। किं बहुना? श्रूयतां ममैष सिंहनादः। नाहमर्थलिप्सुर्ब्रवीमि। ममाशीतिवर्षस्य व्यावृत्तसर्वेन्द्रियार्थस्य न किञ्चिदर्थेन प्रयोजनम्। किन्तु त्वत्प्रार्थना-सिद्धयर्थं सरस्वतीविनोदं करिष्यामि। तल्लिख्यतामद्यतनो दिवसः। यद्यहं षण्मासाभ्यन्तरे तव पुत्रान्नयशास्त्रं प्रत्यनन्यसदृशान् न करिष्यामि, ततो नार्हति देवो देवमार्गं संदर्शयितुम्।'

इसके अनन्तर राजा से विष्णुशर्मा ने कहा—'राजन्! मेरे सत्यवाक्य को सुनिए। मैं सौ गाँव से विद्या विक्रय नहीं करता। तथापि आप के इन पुत्रों को नीतिशास्त्र का ज्ञान यदि छः मास में न करा सकूँ तो मैं अपना नाम सर्वथा त्याग दूँगा। बहुत कहने से क्या लाभ? मेरी केशरी तुल्य गर्जना सुनिए। मैं धन की लालच से नहीं कहता हूँ। मुझे धन से कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि अस्सी वर्ष की अवस्था तक सम्पूर्ण इन्द्रियों के भोग से आसक्ति रहित होगया हूँ। इसलिए आपकी प्रार्थनासिद्धि के लिए सरस्वती विनोद करूँगा। अतः आज के दिन का नाम लिख लीजिए। यदि मैं छः महीने के अन्दर आप के पुत्रों को नीति-शास्त्र में असाधारण ज्ञाता न बना दूँ तो परमेश्वर मुझे स्वर्गपथ न दिखावें।'

अथासौ राजा तां ब्राह्मणस्यासम्भाव्यां प्रतिज्ञां श्रुत्वा स-सचिवः प्रहृष्टो विस्मयान्वितस्तस्मै सादरं तान् कुमारान् समर्प्य परां निर्वृत्ति-माजगाम। विष्णुशर्मणापि तानादाय तदर्थं मित्रभेद-मित्रप्राप्ति-काको-

* 'शासनं भूपदत्तोर्व्याम्' इत्यमरः।

लूकीय-लब्धप्रणाश-अपरीक्षितकारकाणि चेति पञ्च-तन्त्राणि रचयित्वा पाठितास्ते राजपुत्राः। तेऽपि तान्यधीत्य मासषट्केन यथोक्ताः संवृत्ताः। ततः प्रभृत्येतत्पञ्चतन्त्रकं नाम नीतिशास्त्रं बालावबोधनार्थं भूतले प्रवृत्तम्। किं बहुना?

इसके अनन्तर ब्राह्मण की इस असाधारण प्रतिज्ञा को सुनकर राजा मन्त्रियों के सहित अत्यन्त प्रसन्न हो आश्चर्यान्वित हुआ। उन कुमारों को आदर के साथ उनको समर्पित कर राजा अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। विष्णुशर्मा ने भी उन (कुमारों) को लेजाकर उनके निमित्त मित्रभेद, मित्रप्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश और अपरीक्षितकारक इन पाँच तन्त्रों की रचना कर उन्हें पढ़ाया। वे भी उनको पढ़कर जैसा कहा था वैसा छः महीने में हो गए। उसी दिन से यह पञ्चतन्त्र नाम का नीतिशास्त्र का ग्रन्थ बालकों के ज्ञानार्जन के लिए जगत् में प्रसिद्ध हुआ। अधिक क्या?

अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं शृणोति च।
न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन ॥१०॥

जो इस नीतिशास्त्र का अध्ययन करता है, अथवा सुनता है वह इन्द्र से भी कभी पराभव को प्राप्त नहीं होता ॥१०॥

इति कथामुखम्

अथ मित्रभेदः

अथातः प्रारभ्यते मित्रभेदो नाम प्रथमं तन्त्रम्। यस्यायमादिमः श्लोकः—

अब यहाँ से मित्रभेद नाम का पहला तन्त्र आरम्भ होता है, जिसका यह पहला श्लोक है—

वर्धमानो महान् स्नेहः सिंहगोवृषयोर्वने।
पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः॥ १॥

वन में शेर और बैल के बीच जो बड़ा प्रेम बढ़ा हुआ था उसे चुगलखोर महालालची गीदड़ ने नष्ट कर दिया॥ १॥

तद्यथानुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम्। तत्र धर्मोपार्जितभूरिविभवो वर्धमानको नाम वणिक्पुत्रो बभूव। तस्य कदाचिद्रात्रौ शय्यारूढस्य चिन्ता समुत्पन्ना—यत्प्रभूतेऽपि वित्तेऽर्थोपायाश्चिन्तनीयाः कर्तव्याश्चेति। यत उक्तं च—

ऐसा सुना जाता है कि 'दक्षिण देश में महिलारोप्य नाम का एक नगर है। वहाँ धर्मद्वारा उपार्जित बहुत धनवाला वर्द्धमान नामका बनिये का पुत्र था। उसे एक समय रात में शय्या पर सोते हुए चिन्ता उत्पन्न हुई, कि 'धन-बाहुल्य होने पर भी धनप्राप्ति के उपाय सोचना और करना चाहिये। क्योंकि कहा भी है—

न हि तद्विद्यते किञ्चिद्यदर्थेन न सिद्ध्यति।
यत्नेन मतिमांस्तस्मादर्थमेकं प्रसाधयेत्॥ २॥

ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो धन द्वारा सिद्ध न होती हो। इसलिये विद्वान् को चाहिये कि केवल एक धन का प्रयत्न पूर्वक उपार्जन करें॥ २॥

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमांल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः॥ ३॥

जिसके पास धन है उसी के मित्र होते हैं। जिसके पास धन है उसी के बन्धु होते हैं। जिसके पास धन है वही संसार में मनुष्य है और वही पण्डित भी है॥ ३॥

न सा विद्या न तद्दानं न तच्छिल्पं न सा कला ।
न तत्स्थैर्यं हि, धनिनां याचकैर्यन्न गीयते ॥ ४ ॥

न कोई ऐसी विद्या है, न ऐसा दान है, न ऐसा शिल्प है, न ऐसी कला है, न ऐसी स्थिरता है जो धनियों में याचकगण न कहते हों (अर्थात् विद्या आदि सब गुण धनियों में ही कहे जाते हैं) ॥ ४ ॥

इह लोके हि धनिनां परोऽपि स्वजनायते ।
स्वजनोऽपि दरिद्राणां सर्वदा दुर्जनायते ॥ ५ ॥

इस संसार में दूसरे लोग भी धनियों के रिश्तेदार हो जाते हैं किन्तु दरिद्र पुरुषों के अपने कुटुम्बी भी सर्वदा दुष्टवत् आचरण करते हैं ॥ ५ ॥

अर्थेभ्योऽपि हि वृद्धेभ्यः संवृत्तेभ्यस्ततस्ततः ।
प्रवर्तन्ते क्रियाः सर्वाः पर्वतेभ्य इवापगाः ॥ ६ ॥

जैसे पर्वतों से सब नदियों की प्रवृत्ति है, उसी प्रकार इधर उधर से एकत्रित कर बढ़ाए हुए धन से सब क्रियाओं की प्रवृत्ति होती है ॥ ६ ॥

पूज्यते यदपूज्योऽपि यदगम्योऽपि गम्यते ।
वन्द्यते यदवन्द्योऽपि स प्रभावो धनस्य च ॥ ७ ॥

वह धन का ही प्रभाव है जो कि—अपूज्य भी पूजित होते, न जाने योग्य के यहाँ भी लोग जाते और अप्रणम्य को भी लोग प्रणाम करते हैं ॥ ७ ॥

अशनादिन्द्रियाणीव स्युः कार्याण्यखिलान्यपि ।
एतस्मात् कारणाद्वित्तं सर्वसाधनमुच्यते ॥ ८ ॥

जैसे भोजन करने से इन्द्रियगण सबल होते हैं, उसी प्रकार समस्त कार्य- धन से ही होते हैं, इसलिये धन सर्वसाधन कहलाता है ॥ ८ ॥

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं श्मशानमपि सेवते ।
त्यक्त्वा जनयितारं स्वं निःस्वं गच्छति दूरतः ॥ ९ ॥

धन के लोभ से लोग श्मशान (मुर्दा जलाने के स्थान) की भी सेवा करते हैं, किन्तु अपने जन्म देनेवाले निर्धन पिता को छोड़कर दूर भागते हैं ॥ ९ ॥

गतवयसामपि पुंसां येषामर्था भवन्ति ते तरुणाः ।
अर्थेन तु ये हीना वृद्धास्ते यौवनेऽपि स्युः ॥ १० ॥

जिन पुरुषों के पास धन है वे वृद्ध भी तरुण हैं। और जो धनहीन हैं वे युवावस्था में भी वृद्ध हैं ॥१०॥

स चार्थः पुरुषाणां षड्भिरुपायैर्भवति—भिक्षया, नृपसेवया, कृषिकर्मणा, विद्योपार्जनेन, व्यवहारेण, वणिक्कर्मणा वा। सर्वेषामपि तेषां वाणिज्येनातिरस्कृतोऽर्थलाभः स्यात्। उक्तं च यतः—

वह सम्पत्ति मनुष्यों को छ उपायों से मिलती है (१) भिक्षा (२) राजकीय सेवा (नौकरी) (३) खेती के कर्म (४) विद्योपार्जन (५) व्यवहार (लेनदेन) और (६) वाणिज्य—(बनियों के कर्म, व्यापार) द्वारा। इन सब में वाणिज्यद्वारा अगर्हित धन लाभ होता है। क्योंकि कहा भी है—

कृता भिक्षानेकैर्वितरति नृपो नोचितमहो
कृषिः क्लिष्टा विद्या गुरुविनयवृत्त्यातिविषमा।
कुसीदाद्दारिद्र्यं परकरगतग्रन्थिशमना-
न्न मन्ये वाणिज्यात् किमपि परमं वर्तनमिह ॥११॥

अनेक लोगों से भिक्षा माँगनी पड़ती है, राजा भी उचित वृत्ति नहीं देता, कृषि क्लेश से परिपूर्ण है, विद्या गुरु की विनयवृत्ति द्वारा बड़ी विषम है, व्याज से दरिद्रता होती है क्योंकि दूसरों के हाथों में जाने से ग्रन्थिशमन (गाँठ गायब) की आशङ्का रहती है। इसीलिए वाणिज्य कर्म से बढ़ कर और किसी को मैं जीविका की वृत्ति नहीं मानता ॥११॥

उपायानां च सर्वेषामुपायः पण्यसंग्रहः।
धनार्थं शस्यते ह्येकस्तदन्यः संशयात्मकः ॥१२॥

सब उपायों का उपाय वाणिज्य करना है। एक वही धन के लिये प्रशंसनीय है और अन्य संशयात्मक है ॥१२॥

तच्च वाणिज्यं सप्तविधमर्थागमाय स्यात्। तद्यथा—गान्धिकव्यवहारः, निक्षेपप्रवेशः, गोष्ठिककर्म, परिचितग्राहकागमः, मिथ्याक्रयकथनम्, कूटतुलामानम्, देशान्तराद्भाण्डानयनं चेति। उक्तं च—

धन की प्राप्ति के लिये सात प्रकार का वाणिज्य होता है। यथा—(१) इत्र, तेल का व्यवसाय (२) हुण्डी (३) गोष्ठिक (गाय के सम्बन्ध के) कर्म वा

गोष्ठिककर्म याने समाज सम्बन्धि कर्म (समाज में मुखिया होकर न्यायान्याय का विचार 'समाज सेवा' करना)। (४) परिचित ग्राहकों का आना (५) विक्री करते समय वस्तु का असत्य भाव बतलाना (६) तराजू तौलने में चालबाज़ी करना और (७) दूसरे देशों से बरतन आदि लाना। कहा भी है कि—

पण्यानां गान्धिकं पण्यं किमन्यैः काञ्चनादिभिः ?
यत्रैकेन च यत्क्रीतं तच्छतेन प्रदीयते ॥१३॥

बेंचने योग्य वस्तुओं में गन्धी कर्म उत्तम है, अन्य सुवर्ण आदि के रोजगारों से क्या लाभ ? जिसमें एक का खरीदकर सौ को दिया जाता है ॥१३॥

निक्षेपे पतिते हर्म्ये श्रेष्ठी स्तौति स्वदेवताम्।
निक्षेपी म्रियते तुभ्यं प्रदास्याम्युपयाचितम् ॥१४॥

धरोहर कोठी में आ जाने पर सेठ अपने (कुल-) देवता की स्तुति करने लगता है कि यदि धरोहर रखनेवाले की मृत्यु हो जाय तो मैं आप की अभिलषित वस्तु से पूजा करूँगा ॥१४॥

गोष्ठिककर्मनियुक्तः श्रेष्ठी चिन्तयति चेतसा हृष्टः।
वसुधा वसुसम्पूर्णा मयाद्य लब्धा किमन्येन ? ॥१५॥

गोष्ठिक कर्म में लगा हुआ सेठ हर्षित मन से विचार करता है कि धन से संयुक्त धरा की प्राप्ति मैंने आज की है। मुझे अब अन्य से क्या प्रयोजन है ? ॥

परिचितमागच्छन्तं ग्राहकमुत्कण्ठया विलोक्यासौ।
हृष्यति तद्धनलुब्धो यद्वत्पुत्रेण जातेन ॥१६॥

आते हुए परिचित ग्राहक को उत्कण्ठा से देखकर व्यापारी उसके धन पर आँख गड़ाकर इतना हर्षित होता है, जितना पुत्र के उत्पन्न होने पर ॥१६॥

अन्यच्च।
और भी—

पूर्णापूर्णे माने परिचितजनवञ्चनं तथा नित्यम्।
मिथ्याक्रयस्य कथनं प्रकृतिरियं स्यात्किरातानाम् ॥१७॥

पूरा और कम तौलकर प्रतिदिन परिचित लोगों को ठगना, असत्य भाव बतलाना यह किरातों (किराना के व्यापारियों) का स्वभाव है ॥१७॥

द्विगुणं त्रिगुणं वित्तं भाण्डक्रयविचक्षणाः ।
प्राप्नुवन्त्युद्यमाल्लोका दूरदेशान्तरं गताः ॥१८॥

पात्रों (बरतनों) के बेंचने में कुशल मनुष्य अन्य देश में जाकर उद्यम द्वारा दुगुने-तिगुने धन प्राप्त करते हैं ॥१८॥

इत्येवं संप्रधार्य मथुरागामीनि भाण्डान्यादाय शुभायां तिथौ गुरुजनानुज्ञातः सुरथाधिरूढः प्रस्थितः । तस्य च मङ्गलवृषभौ सञ्जीवक-नन्दकनामानौ गृहोत्पन्नौ धूर्वोढारौ स्थितौ । तयोरेकः सञ्जीवकाभिधानो यमुनाकच्छमवतीर्णः सन् पङ्कपूरमासाद्य कलितचरणो युगभङ्गं विधाय निषसाद । अथ तं तदवस्थमालोक्य वर्धमानः परं विषादमगमत् । तदर्थं च स्नेहार्द्रहृदयस्त्रिरात्रं प्रयाणभङ्गमकरोत् । अथ तं विषण्णमालोक्य सार्थिकैरभिहितम्—'भोः श्रेष्ठिन्, किमेवं वृषभस्य कृते सिंहव्याघ्र-समाकुले बह्वपायेऽस्मिन् वने समस्तसार्थस्त्वया सन्देहे नियोजितः ? उक्तं च—

ऐसा निश्चय कर, मथुरा के बने हुए पात्रों को लेकर, शुभ तिथि में बड़े लोगों की आज्ञा लेकर, गाड़ी पर बैठकर रवाना हुआ । उसके दो शुभलक्षण बैल, सञ्जीवक और नन्दक नाम के जो घर में पैदा हुए थे, बोझ ढोनेवाले थे । उनमें एक सञ्जीवक नामवाला बैल यमुना के थोड़े जलवाले स्थान में उतरकर कीचड़ में फँस जाने के कारण टाँग के टूटजाने से जुआ गिराकर बैठ गया । इसके बाद उसकी वैसी अवस्था देखकर वर्द्धमान अत्यन्त दुःखी हुआ । उसके लिए स्नेह से द्रवीभूत होकर तीन रात तक प्रयाण न किया । उसको खिन्न देखकर साथियों ने कहा—'हे सेठजी ! क्यों इस बैल के लिए सिंह और बाघ से युक्त इस अनेक विपत्तिवाले जङ्गल में आप समस्त साथियों को खतरे में डाल रखे हैं ? कहा भी है—

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः ।
एतदेवात्र पाण्डित्यं यत्स्वल्पाद्भूरिरक्षणम् ॥१९॥

थोड़े के लिए बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अधिक का नाश न करें । इसी में पाण्डित्य है कि थोड़े से ज्यादे की रक्षा करें ॥१९॥

अथासौ तदवधार्य सञ्जीवकस्य रक्षापुरुषान् निरूप्याशेषसार्थं नीत्वा प्रस्थितः। अथ रक्षापुरुषा अपि बह्वपायं तद्वनं विदित्वा सञ्जीवकं परित्यज्य पृष्ठतो गत्वाऽन्येद्युस्तं सार्थवाहं मिथ्याहुः—'स्वामिन्, मृतोऽसौ सञ्जीवकः। अस्माभिस्तु सार्थवाहस्याभीष्ट इति मत्वा वह्निना संस्कृतः' इति।

इसके बाद उस बात को खूब समझकर सञ्जीवक के लिए रक्षा करनेवाले आदमियों को लगाकर बाकी कुल आदमियों को लेकर वह (वैश्य) चला। तब रक्षकगण भी उस वन को विपत्तियुक्त जानकर सञ्जीवक को छोड़कर पीछे से जाकर दूसरे रोज उस सार्थवाह (बनिए) से जाकर झूठ बोलने लगे कि—'हे स्वामिन्! वह सञ्जीवक तो मर गया और हम लोगों ने उसे आपका प्रिय जानकर अन्त्येष्टि (दाह) क्रिया कर दी।'

तच्छ्रुत्वा सार्थवाहः कृतज्ञतया स्नेहार्द्रहृदयस्तस्यौर्ध्वदैहिकक्रिया वृषोत्सर्गादिकाः सर्वाश्चकार।

ऐसा सुनकर बनिया ने कृतज्ञता और दया से आर्द्रहृदय होकर उस (बैल) की और्ध्वदेहिक क्रिया वृषोत्सर्गादि सब किया।

सञ्जीवकोऽप्यायुःशेषतया यमुनासलिलमिश्रैः शिशिरतरवातैराप्यायितशरीरः कथञ्चिदप्युत्थाय यमुनातटमुपपेदे। तत्र मरकतसदृशानि बालतृणाग्राणि भक्षयन् कतिपयैरहोभिर्हरवृष इव पीनः ककुद्मान् बलवांश्च संवृत्तः प्रत्यहं वल्मीकशिखराग्राणि शृङ्गाभ्यां विदारयन् गर्जमान आस्ते। साधु चेदमुच्यते—

और सञ्जीवक भी उम्र बाकी रहने के कारण, यमुना के जल से मिश्रित अतीव शीतल पवन द्वारा स्वस्थ शरीर से, किसी तरह उठकर यमुना नदी के किनारे पहुँचा। यहाँ मरकत मणि के तुल्य (हरे हरे) छोटे तृण के अग्रभाग को खाता हुआ कुछ दिनों में महादेवजी के वृषभ के समान मोटा ककुद् (पीठ पर का मोटा मांस का हिस्सा) वाला और बलवान भी हो गया। हर रोज दीमक के टीले के अगले हिस्सों को सींगों से विदीर्ण करता हुआ गर्जा करता था। यह ठीक कहा जाता है कि—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥२०॥

दैव से रक्षित चीज बिना रक्षा के भी रहती है और अच्छी तरह रक्षा की हुई चीज़ दैव से अरक्षित नष्ट हो जाती है। वन में छोड़ा हुआ भी अनाथ जी जाता है और यत्न करने पर भी घर में नष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

अथ कदाचित् पिङ्गलको नाम सिंहः सर्वमृगपरिवृतः पिपासाकुल उदकपानार्थं यमुनातटमवतीर्णः सञ्जीवकस्य गम्भीरतररावं दूरादेवाश्रृणोत्। तच्छ्रुत्वातीव व्याकुलहृदयः स-साध्वसमाकारं प्रच्छाद्य वटतले चतुर्मण्डलावस्थानेनावस्थितः । चतुर्मण्डलावस्थानं त्विदम्—सिंहः, सिंहानुयायिनः, काकरवाः, किंवृत्ता इति।

इसके बाद एक समय पिङ्गलक नाम का शेर सब मृगों के साथ प्यास के मारे बेचैन होकर पानी पीने के लिए यमुना नदी के किनारे पहुँचा। उसने सञ्जीवक के महा गम्भीर शब्द को दूर ही से सुना। उसको सुनकर अत्यन्त व्याकुल होकर भय के आकार को छिपाकर वट वृक्ष के तले चतुर्मण्डलावस्थान की रीति से बैठा। चतुर्मण्डलावस्थान इसे कहते हैं—सिंह, सिंह के पीछे गमन करनेवाले, काक रव और किंवृत्त।

अथ तस्य करटक-दमनकनामानौ द्वौ श्रृगालौ मन्त्रिपुत्रौ भ्रष्टाधिकारौ सदानुयायिनावास्ताम्। तौ च परस्परं मन्त्रयतः। तत्र दमनकोऽब्रवीत्—'भद्र करटक, अयं तावदस्मत्स्वामी पिङ्गलक उदकग्रहणार्थं यमुनाकच्छमवतीर्य स्थितः। स किं निमित्तं पिपासाकुलोऽपि निवृत्त्य व्यूहरचनां विधाय दौर्मनस्येनाभिभूतोऽत्र वटतले स्थितः?' करटक आह—'भद्र, किमावयोरनेन व्यापारेण? उक्तं च यतः—

उसके करटक और दमनक नामक के दो सियार, मन्त्री के पुत्र अधिकारच्युत तथा सर्वदा अनुयायी थे। वे दोनों आपस में सलाह करने लगे। उनमें से दमनक ने कहा—भद्र करटक! यह हमारा स्वामी पिङ्गलक तो पानी पाने के लिए यमुना की जलयुक्त भूमि पर स्थित हुआ था। फिर क्या वजह है कि प्यास से व्याकुल होने पर भी लौटकर व्यूह रचना कर, दुःखी मन से पराभव प्राप्त

होकर इस वट के तले आया ? करटक बोला—हे भद्र ! हम लोगों को इन बातों से क्या प्रयोजन ? क्योंकि कहा है—

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।
स एव निधनं याति कीलोत्पाटीव वानरः ॥ २१ ॥

जो पुरुष विना काम के काम करना चाहता है वही उसी प्रकार नष्टावस्था को प्राप्त होता है, जिस प्रकार काँटे को निकालकर वानर ॥ २१ ॥

दमनक आह—कथमेतत् ?'

दमनक ने कहा—यह किस प्रकार की कथा है ?

सोऽब्रवीत्-

उसने कहा—

(कथा १)

कस्मिंश्चिन्नगराभ्याशे केनापि वणिक्पुत्रेण तरुषण्डमध्ये देवतायतनं कर्तुमारब्धम् । तत्र च ये कर्मकराः स्थपत्यादयः, ते मध्याह्नवेलायामाहारार्थं नगरमध्ये गच्छन्ति ।

किसी नगर के समीप किसी बनिये के पुत्र ने बगीचे के बीच में देवमन्दिर बनवाना आरम्भ किया । उसमें जो काम करने वाले कारीगर बढ़ई आदि थे वे दोपहर के समय भोजन के लिए शहर में जाते थे ।

अथ कदाचित् तत्रानुषङ्गिकं वानरयूथमितश्चेतश्च परिभ्रमदागतम् । तत्रैकस्य कस्यचिच्छिल्पिनोऽर्धस्फाटितोऽञ्जनवृक्षदारुमयः स्तम्भः खदिरकीलकेन मध्यनिहितेन तिष्ठति । एतस्मिन्नन्तरे ते वानरास्तरुशिखरप्रासादश्रृङ्गदारुपर्यन्तेषु यथेच्छया क्रीडितुमारब्धाः ।

एक समय अपनी जाति के स्वभाव से वानरों का समूह इधर-उधर से घूमता हुआ वहाँ पहुँचा । वहाँ किसी एक काम करने वाले के आधे-चीरे अञ्जन पेड़ के काठ के खम्भे के बीच खैर की कीली लगी थी । इसी बीच उन वानरों ने पेड़ों के ऊपर, मन्दिर की चोटी तथा काठ के चारों ओर स्वेच्छापूर्वक क्रीड़ा करना आरम्भ किया ।

एकश्च तेषां प्रत्यासन्नमृत्युश्चापल्यात् तस्मिन्नर्धस्फाटितस्तम्भ उपविश्य पाणिभ्यां कीलकं संगृह्य यावदुत्पाटयितुमारेभे, तावत् तस्य स्तम्भमध्यगतवृषणस्य स्वस्थानाच्चलितकीलकेन यद्वृत्तं तत्प्रागेव निवेदितम्। अतोऽहं ब्रवीमि—'अव्यापारेषु' इति।

उनमें एक जिसकी मृत्यु समीप आ गई थी वह चपलता के कारण उस आधे चीरे हुए स्तम्भ पर बैठकर हाथ से कील पकड़कर ज्यों ही निकालने लगा त्यों ही स्तम्भ के छेद में लटके हुए उसके अण्डकोष (फोतों)-की, अपने जगह से निकली हुई कीली के कारण, जो दशा हुई उसको मैंने प्रारम्भ ही में बतला दिया। इसीलिए मैं कहता हूँ कि 'जो पुरुष विना काम के काम करना चाहता है' इत्यादि।

आवयोर्भक्षितशेष आहारोऽस्त्येव। तत्किमनेन व्यापारेण?'

हम दोनों को खाने से बचा हुआ अभी भोजन बचा हुआ है ही, तब इस व्यापार से क्या प्रयोजन?

दमनक आह—'तत् किं भवानाहारार्थी केवलमेव? तन्न युक्तम्। उक्तं च—

दमनक बोला—उससे क्या? आप तो केवल आहार मात्र की चेष्टा करते हैं। यह ठीक नहीं। कहा भी है कि—

सुहृदामुपकारकारणाद्द्विषतामप्यपकारकारणात्।
नृपसंश्रय इष्यते बुधैर्जठरं को न बिभर्ति केवलम्॥२२॥

बुद्धिमान लोग मित्रों का उपकार करने के हेतु और शत्रुओं का अपकार करने के हेतु, राजा का आश्रय पाने की इच्छा करते हैं। कौन ऐसा है जो अपना पेट नहीं भर लेता?॥२२॥

किंच—

कारण कि,

यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः सोऽत्र जीवतु।
वयांसि किं न कुर्वन्ति चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्॥२३॥

जिसके जीने से बहुत आदमी जिएं उसी का इस लोक में जीना ठीक है वैसे तो क्या पक्षिगण चोंच से अपने उदर की पूर्ति नहीं कर लेते ? ॥२३॥

तथा च ।
और भी—

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
विज्ञानशौर्यविभवार्यगुणैः समेतम् ।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥२४॥

जो क्षण भर भी मनुष्यों द्वारा विस्तारित यशवाला होकर जीता है, विज्ञान शूरता, विभव युक्त जो जीवन है, उसके जाननेवाले उसी को जीवित कहते हैं अन्यथा कौआ भी तो बहुत दिनों तक जीता है और बलि खाता है ॥२४॥

यो नात्मना न च परेण च बन्धुवर्गे
दीने दयां न कुरुते न च मर्त्यवर्गे ।
किं तस्य जीवितफलं हि मनुष्यलोके
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥२५॥

जो न अपने से या न दूसरे के द्वारा, न तो रिश्तेदारों पर, न गरीबों पर न मनुष्यों पर दया करता है तो मर्त्यलोक में उसके जीने से क्या फल है ? इस तरह तो कौआ भी बहुत दिनों तक जीता है और बलि खाता है ॥२५॥

सुपूरा स्यात् कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः ।
सुसन्तुष्टः कापुरुषः स्वल्पकेनापि तुष्यति ॥२६॥

छोटी नदी जल्दी भर जाती है, चूहे की अंजली शीघ्र परिपूर्ण हो जाती है कायर जल्दी ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, ये अत्यन्त अल्प से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥२६॥

किंच—
और भी—

किं तेन जातु जातेन मातुर्यौवनहारिणा ? ।
आरोहति न यः स्वस्य वंशस्याग्रे ध्वजो यथा ॥२७॥

माता की युवावस्था हरण करनेवाले उस मनुष्य के जन्म ग्रहण करने से कभी भी क्या लाभ ? जो अपने कुल में पताका के अग्रिम भाग के तुल्य स्थित नहीं होता ॥२७॥

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।
जातस्तु गण्यते सोऽत्र यः स्फुरेच्च श्रियाधिकः ॥२८॥

परिवर्तनशील संसार में मर कर कौन नहीं उत्पन्न होता किन्तु वही जन्म लेने वाला समझा जाता है जो लक्ष्मी से अधिक स्फुरणशील हो ॥२८॥

किं च—

और भी—

जातस्य नदीतीरे तस्यापि तृणस्य जन्मसाफल्यम् ।
यत्सलिलमज्जनाकुलजनहस्तालम्बनं भवति ॥२९॥

नदी के किनारे उत्पन्न हुए उस तृण का भी जन्म सफल है जो पानी में डूबने के कारण व्याकुल लोगों का हस्तावलम्बन होता है ॥ २९ ॥

तथा च—

और भी—

स्तिमितोन्नतसञ्चारा जनसन्तापहारिणः ।
जायन्ते विरला लोके जलदा इव सज्जनाः ॥३०॥

ऊँचे नीचे सञ्चार करनेवाले, मनुष्य के ताप को हरण करनेवाले मेघ के सदृश कोई विरले ही सज्जन उत्पन्न होते हैं ॥३०॥

निरतिशयं गरिमाणं तेन जनन्याः स्मरन्ति विद्वांसः ।
यत्कमपि वहति गर्भं महतामपि यो गुरुर्भवति ॥३१॥

विद्वान् पुरुष उसकी उत्पत्ति से माता की अत्यन्त गरिमा का याद करते हैं जो किसी उस (विलक्षण) गर्भ को धारण करती है जो (गर्भोत्पन्न बालक) बड़े लोगों का भी गुरु होता है ॥ ३१ ॥

अप्रकटीकृतशक्तिः शक्तोऽपि जनस्तिरस्क्रियां लभते ।
निवसन्नन्तर्दारुणि लङ्घ्यो वह्निर्न तु ज्वलितः ॥३२॥

समर्थ मनुष्य भी जिसने अपनी शक्ति को प्रकट नहीं किया है वह अन्य

द्वारा निराहत हो जाता है। (जिस प्रकार) लकड़ी के अन्दर रहने वाली आग को सभी उल्लङ्घन करते हैं, प्रज्वलित को कोई नहीं ॥ ३२ ॥

करटक आह—'आवां तावदप्रधानौ। तत्किमावयोरनेन व्यापारेण। उक्तं च—

करटक ने कहा—हम तो अप्रधान हैं अतः हम लोगों को इस व्यापार से क्या लाभ ? कहा भी है—

अपृष्टोऽत्राप्रधानो यो ब्रूते राज्ञः पुरः कुधीः।
न केवलमसम्मानं लभते च विडम्बनम् ॥३३॥

जो अप्रधान कुबुद्धि, विना पूछे हुए इस लोक में राजा के सम्मुख बोलता है वह केवल असम्मान को ही नहीं पाता बल्कि उसकी विडम्बना भी होती है॥

तथा च—

और भी—

वचस्तत्र प्रयोक्तव्यं यत्रोक्तं लभते फलम्।
स्थायी भवति चात्यन्तं रागः शुक्लपटे यथा ॥३४॥

बात वहाँ कहनी चाहिए जहाँ कहने से फल की प्राप्ति हो, जिस प्रकार श्वेत वस्त्र पर लाल रङ्ग बहुत स्थायी होता है ॥३४॥

दमनक आह—'मा मैवं वद।'

दमनक ने कहा—ऐसा मत कहो।

अप्रधानः प्रधानः स्यात् सेवते यदि पार्थिवम्।
प्रधानोऽप्यप्रधानः स्याद्यदि सेवाविवर्जितः ॥३५॥

यदि राजा की सेवा करे तो अप्रधान प्रधान हो जाता है, और सेवा से पराङ्मुख हो तो प्रधान भी अप्रधान हो जाता है ॥ ३५ ॥

यत उक्तं च—

क्योंकि कहा भी है—

आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं
विद्याविहीनमकुलीनमसंस्कृतं वा।
प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च
यत्पार्श्वतो भवति तत्परिवेष्टयन्ति ॥३६॥

समीप के ही मनुष्य को राजा मानता है, चाहे वह विद्यारहित, अकुलीन, ही क्यों न हो। प्रायः राजा लोग, कामिनियाँ और लताएँ ये, जो पासही में स्थित रहता है, उन्हीं का परिवेष्टन करती हैं ॥३६॥

तथा च।

और भी—

कोपप्रसादवस्तूनि ये विचिन्वन्ति सेवकाः।
आरोहन्ति शनैः पश्चाद्धुन्वन्तमपि पार्थिवम् ॥३७॥

जो सेवक लोग कोप और प्रसाद के कारण पर मनन किया करते हैं वे शनैः शनैः (धीरे धीरे) प्रतिकूल राजा के यहाँ भी (उच्च पद पर) आरोहण करते हैं ॥३७॥

विद्यावतां महेच्छानां शिल्पविक्रमशालिनाम्।
सेवावृत्तिविदां चैव नाऽऽश्रयः पार्थिवं विना ॥३८॥

विद्यासम्पन्न, शिल्प एवं पराक्रम से युक्त, सेवा की वृत्ति के ज्ञाता महान् आशयवाले मनुष्यों का—राजा को छोड़कर—अन्यत्र कहीं आश्रय नहीं है ॥३८॥

ये जात्यादिमहोत्साहान्नरेन्द्रान्नोपयान्ति च।
तेषामामरणं भिक्षा प्रायश्चित्तं विनिर्मितम् ॥३९॥

जो अपनी जाति आदि के गौरव के कारण नरपालों के सन्निकट नहीं जाते उनको मृत्युकाल पर्यन्त भिक्षा माँगना ही प्रायश्चित्त बतलाया गया है ॥३९॥

ये च प्राहुर्दुरात्मानो दुराराध्या महीभुजः।
प्रमादालस्यजाड्यानि ख्यापितानि निजानि तैः ॥४०॥

जो दुष्टात्मा यह कहा करते हैं कि 'राजा बड़ी कठिनाई द्वारा आराधन करने के योग्य होते हैं' उन्होंने अपनी असावधानी, सुस्ती, और मूर्खता प्रकट की है ॥४०॥

सर्पान् व्याघ्रान् गजान् सिंहान् दृष्ट्वोपायैर्वशीकृतान्।
राजेति कियती मात्रा धीमतामप्रमादिनाम् ? ॥४१॥

जब साँप, बाघ, हाथी, शेर आदिकों को उपायों द्वारा वश में करते हुए देखा है। फिर प्रमाद न करनेवाले बुद्धिमान लोगों के लिए, राजा को वश में कर लेना, क्या बड़ी बात है ? ॥४१॥

राजानमेव संश्रित्य विद्वान् याति परां गतिम् ।
विना मलयमन्यत्र चन्दनं न प्ररोहति ॥४२॥

राजा ही के आश्रय से विद्वान् श्रेष्ठ गति को प्राप्त होता है, क्योंकि मलयपर्वत के अतिरिक्त अन्यत्र चन्दन वृक्ष ही नहीं उगता ॥४२॥

धवलान्यातपत्राणि वाजिनश्च मनोरमाः ।
सदा मत्ताश्च मातङ्गाः प्रसन्ने सति भूपतौ' ॥४३॥

श्वेत छत्र, सुन्दर घोड़े और मत्त हस्ती-ये सर्वदा राजा के प्रसन्न होने पर ही मिलते हैं ॥४३॥

करटक आह—'अथ भवान् किं कर्तुमनाः ?'

करटक ने कहा—अब आप की क्या करने की इच्छा है ?

सोऽब्रवीत्—'अद्याऽस्मत्स्वामी पिङ्गलको भीतो भीतपरिवारश्च वर्तते । तदेनं गत्वा भयकारणं विज्ञाय सन्धि-विग्रह-यान-आसनसंश्रय-द्वैधीभावानामेकतमेन संविधास्ये ।'

उसने कहा—आज हम लोगों का स्वामी पिङ्गलक डरा हुआ है और भयभीत परिवार सहित है । सो इनके पास जाकर भय के कारण को समझकर सन्धि (सुलह), विग्रह (लड़ाई), यान (शत्रु पर चढ़ाई करने के लिये रवाना होना), आसन (समय की प्रतीक्षा देखना), संश्रय (वर्तमान शत्रु अथवा भविष्य में होनेवाले शत्रुओं के विरुद्ध शक्तिशाली राजा का आश्रय ग्रहण करना) और द्वैधीभाव (दो बलवान् शत्रु हों तो दोनों से मिलकर अपने स्थान में रहना)—इनमें से एक को ग्रहण कर वैसा आचरण करूँगा ।

करटक आह—'कथं वेत्ति भवान् यद्भयाविष्टोऽयं स्वामी ।'

करटक ने कहा—आप कैसे जानते हैं कि स्वामी भयाकुल हैं ?

सोऽब्रवीत्—'ज्ञेयं किमत्र । यत उक्तं च—

उसने कहा—इसे जानने में रखा ही क्या है ? कहा भी तो है—

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते हयाश्च नागाश्च वहन्ति चोदिताः ।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥४४॥

कही हुई बात को पशु भी ग्रहण कर लेते हैं, प्रेरणा करने पर घोड़े और

हाथी भार वहन करते हैं, पण्डित लोग बिना कही हुई बात को भी जान जाते हैं क्योंकि उनकी बुद्धि दूसरों के भाव को जानने वाली होती है ॥४४॥

तथा च मनुः—

वैसा मनु भगवान् ने कहा है—

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ४५ ॥

आकार, सङ्केत, गति, चेष्टा, भाषण, नेत्र और मुख की विकृतावस्था (चढ़ाव-उतार) से मन के भीतर की बात जानी जाती है ॥४५॥

तदद्यैनं भयाकुलं प्राप्य स्वबुद्धिप्रभावेण निर्भयं कृत्वा, वशीकृत्य च निजां साचिव्यपदवीं समासादयिष्यामि ।'

इसलिए इस भयभीत (स्वामी) के पास जाकर, अपनी बुद्धि के प्रभाव से, निर्भय और वश में कर, पुनः अपनी मंत्री-पदवी को प्राप्त करूँगा ।

करटक आह—'अनभिज्ञो भवान् सेवाधर्मस्य । तत्कथमेनं वशीकरिष्यसि ?'

करटक ने कहा—आप सेवाधर्म से अनभिज्ञ हैं । इसलिए उन्हें वश में किस प्रकार करेंगे ?

सोऽब्रवीत्—'कथमहं सेवानभिज्ञः ? मया हि तातोत्सङ्गे क्रीडताऽभ्यागतसाधूनां नीतिशास्त्रं पठतां यच्छ्रुतं सेवाधर्मस्य सारभूतं हृदि स्थापितम् । श्रूयताम् । तच्चेदम्—

उसने कहा—मैं सेवा से अनभिज्ञ किस तरह हूँ ? मैंने पिता की गोद में खेलते हुए, अतिथि साधुओं को जो नीति शास्त्र पढ़ते हुए सुना है उस सेवा-धर्म के निचोड़ (सारांश) को मैंने हृदय में धारण कर लिया है । उसे सुनिए, वह यह है—

सुवर्णपुष्पितां पृथ्वीं विचिन्वन्ति नरास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥४६॥

सुवर्ण रूप फूल फूलनेवाली अर्थात् सुवर्ण से परिपूर्ण पृथ्वी को तीन प्रकार के मनुष्य ढूँढ़ते हैं—एक पराक्रमी, दूसरे पण्डित, और तीसरे सेवक ॥४६॥

सा सेवा या प्रभुहिता ग्राह्या वाक्यविशेषतः ।
आश्रयेत् पार्थिवं विद्वांस्तद्द्वारेणैव नान्यथा ॥४७॥

वही सेवा है जो प्रभु का कल्याण करनेवाली है और वह विशेषकर प्रभु के वाक्य से ग्रहण की जाती है। विद्वजन को चाहिए कि उसी (वाक्य) द्वारा राजा का आश्रय ग्रहण करें और अन्य कोई मार्ग नहीं है ॥४७॥

यो न वेत्ति गुणान् यस्य न तं सेवेत पण्डितः ।
न हि तस्मात् फलं किञ्चित् सुकृष्टादूषरादिव ॥ ४८ ॥

जो जिसका गुण न जानता हो उसकी सेवा पण्डित (राजनीतिज्ञ) को चाहिए कि न करे। क्योंकि उससे कुछ लाभ नहीं होता, जिस प्रकार ऊसर भूमि को अच्छी तरह जोतने से (भी कोई लाभ नहीं) ॥४८॥

द्रव्यप्रकृतिहीनोऽपि सेव्यः सेव्यगुणान्वितः ।
भवत्याजीवनं तस्मात् फलं कालान्तरादपि ॥ ४९ ॥

द्रव्य और प्रकृति से हीन मनुष्य भी यदि सेवन करने योग्य गुणों से युक्त हो तो उसकी सेवा करनी चाहिए। उसके द्वारा जन्म पर्यन्त कालान्तर में भी फल की प्राप्ति हो सकती है ॥४९ ॥

अपि स्थाणुवदासीनः शुष्यन् परिगतः क्षुधा ।
न त्वेवाऽनात्मसम्पन्नाद्वृत्तिमीहेत पण्डितः ॥५०॥

बल्कि ठूँठे पेड़ की तरह खड़ा हुआ, सूखता हुआ, और क्षुधा से आक्रान्त रहना श्रेयस्कर है किन्तु पण्डित को चाहिए कि अज्ञानी प्रभु से वृत्ति प्राप्त करने की इच्छा न करे ॥५०॥

सेवकः स्वामिनं द्वेष्टि कृपणं परुषाक्षरम् ।
आत्मानं किं स न द्वेष्टि सेव्यासेव्यं न वेत्ति यः ॥५१॥

जो सेवक कृपण स्वामी की कठोर शब्दों से निन्दा करता है। वह क्या अपनी निन्दा नहीं करता ? क्योंकि वह सेव्य (सेवा करने योग्य है) या असेव्य (सेवा करने योग्य नहीं है) इसका ज्ञान नहीं रखता ॥५१॥

यमाश्रित्य न विश्रामं क्षुधार्ता यान्ति सेवकाः ।
सोऽर्कवन्नृपतिस्त्याज्यः सदा पुष्पफलोऽपि सन् ॥५२॥

जिसका आश्रय ग्रहण कर सेवक लोग भूख से व्याकुल होकर विश्राम न पावें ऐसा राजा, फूला-फला हुआ मदार (आक) के पेड़ की तरह, सर्वथा त्यागने ही के योग्य है ॥५२॥

राजमातरि देव्यां च कुमारे मुख्यमन्त्रिणि ।
पुरोहिते प्रतीहारे सदा वर्तेत राजवत् ॥५३॥

राजमाता, पटरानी, राजकुमार, मुख्य मन्त्री, पुरोहित और द्वारपाल—इनके प्रति सर्वदा राजा के तुल्य आचरण करे ॥५३॥

जीवति प्रब्रुवन् प्रोक्तः कृत्याऽकृत्यविचक्षण ।
करोति निर्विकल्पं यः स भवेद्राजवल्लभः ॥५४॥

कृत्य अकृत्य का जानने वाला, पुकारने से जो 'जी' ! कहा करे और कोई विचार किये बिना ही जो राजा की आज्ञा शिरोधार्य करे ऐसा व्यक्ति राजा का प्रियपात्र बन जाता है ॥५४॥

प्रभुप्रसादजं वित्तं सुप्राप्तं यो निवेदयेत् ।
वस्त्राद्यं च दधात्यङ्गे स भवेद्राजवल्लभः ॥५५॥

प्रभु की कृपा से प्राप्त हुए धन से जो सन्तोष प्रकट करता है और उनके दिये वस्त्रादि को अपने अङ्गों पर धारण करता है वह राजा का प्रिय होता है ॥५५॥

अन्तःपुरचरैः सार्धं यो न मन्त्रं समाचरेत् ।
न कलत्रैर्नरेन्द्रस्य स भवेद्राजवल्लभः ॥५६॥

अन्तःपुर में रहने वालों के साथ जो गुप्त भाषण नहीं करता और न राजा की रानियों से बात करता है, वह राजा का प्रिय होता है ॥५६॥

द्यूतं यो यमदूताभं हालां हालाहलोपमाम् ।
पश्येद्दारान् वृथाकारान् स भवेद्राजवल्लभः ॥५७॥

द्यूत (जुए) को जो यमदूत के तुल्य, मदिरा को विषवत्, और स्त्रियों को कुत्सित आकार वाली (कुरूपा के समान) देखता है, वह राजा का प्रिय होता है ॥ ५७ ॥

युद्धकालेऽग्रगो यः स्यात् सदा पृष्ठानुगः पुरे।
प्रभोर्द्वाराश्रितो हर्म्ये स भवेद्राजवल्लभः ॥५८॥

जो समरकाल में अग्रगामी हो, पुर में पीछे २ चले, मकान में प्रभु की ड्योढ़ी पर खड़ा रहे, वह राजा का प्रिय होता है ॥ ५८ ॥

सम्मतोऽहं विभोर्नित्यमिति मत्वा व्यतिक्रमेत्।
कृच्छ्रेष्वपि न मर्यादां स भवेद्राजवल्लभः ॥५९॥

'मैं सर्वदा प्रभु की सम्मति के अनुसार कार्य करने वाला हूँ' ऐसा समझ कर जो कष्टकाल में भी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता, वह राजा का प्रिय होता है ॥ ५९ ॥

द्वेषिद्वेषपरो नित्यमिष्टानामिष्टकर्मकृत्।
यो नरो नरनाथस्य स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६० ॥

जो मनुष्य राजा के विपक्षियों से नित्य द्वेष रखता है, और उसके प्रियजनों का नित्य प्रियकर्म करता है, वह राजा का प्रिय होता है ॥ ६० ॥

प्रोक्तः प्रत्युत्तरं नाऽहं विरुद्धं प्रभुणा च यः।
न समीपे हसत्युच्चैः स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६१ ॥

जो प्रभु के कथन पर विरुद्ध उत्तर नहीं देता है, और न उनके समीप खूब जोर से हँसता है, वह राजा का प्रिय होता है ॥ ६१ ॥

यो रणं शरणं[1] तद्वन्मन्यते भयवर्जितः।
प्रवासं स्वपुराऽऽवासं स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६२ ॥

जो निर्भय होकर रणभूमि को गृहभूमि के समान मानता है और परदेश में रहने को अपने नगर में रहने के तुल्य मानता है, वह राजा का प्रिय होता है।६२।

न कुर्यान्नरनाथस्य योषिद्भिः सह सङ्गतिम्।
न निन्दां न विवादं च स भवेद्राजवल्लभः' ॥६३॥

जो राजा की पत्नियों के साथ न सङ्गति, न (उनकी) निन्दा, और न विवाद करे वह राजा प्रिय होता है ॥ ६३ ॥

१ "शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः।

करटक आह—'अथ भवांस्तत्र गत्वा किं तावत् प्रथमं वक्ष्यति तत् तावदुच्यताम् ?'

करटक ने कहा—आप वहाँ जाकर शुरू में क्या कहेंगे ? यह तो बतलाइये।

दमनक आह—

दमनक ने कहा—

'उत्तरादुत्तरं वाक्यं वदतां सम्प्रजायते ।
सुवृष्टिगुणसम्पन्नाद्बीजाद्बीजमिवाऽपरम् ॥६४॥

कहने सुनने से वाक्य की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है, जिस प्रकार अच्छी वर्षा होने के गुण से एक बीज से दूसरा बीज होता रहता है ॥ ६४ ॥

अपायसंदर्शनजां विपत्तिमुपायसंदर्शनजां च सिद्धिम् ।
मेधाविनो नीतिगुणप्रयुक्तां पुरः स्फुरन्तीमिव वर्णयन्ति ॥६५॥

नाश से प्राप्त होनेवाली विपत्ति और उपाय से होनेवाली सिद्धि—इन दोनों को बुद्धिमान् लोग नीति के गुणसे युक्त होने के कारण, आगे स्फुरण करती हुई के तुल्य, वर्णन करते हैं ॥६५॥

एकेषां वाचि शुकवदन्येषां हृदि मूकवत् ।
हृदि वाचि तथान्येषां वल्गु वल्गन्ति सूक्तयः ॥६६॥

एक की बात बोलने में तोते के समान (अर्थात् वे तोते की तरह मधुर शब्द कहते हैं किन्तु मन में कपट रखते हैं), दूसरे प्रकार के व्यक्ति के हृदय में मूक के समान (यानी उनका सम्भाषण तो अत्यन्त कठोर होता है परन्तु हृदय छल रहित होता है), और तीसरे तरह के मनुष्यों की सुन्दर उक्ति हृदय और वचन से मधुरता को प्रकट करती है ॥ ६६ ॥

न चाऽहमप्राप्तकालं वक्ष्ये । आकर्णितं मया नीतिसारं पितुः पूर्वमुत्सङ्गं हि निषेवता ।

मैं असमय की बात न कहूँगा । क्योंकि पिता की गोद का सेवन करता हुआ पूर्व में मैंने नीति सार सुना है ।

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बह्ववज्ञानमपमानं च पुष्कलम्' ॥६७॥

असमय की बात को यदि बृहस्पति भी कहते हों तो वे अत्यन्त निरादर तथा अपमान को प्राप्त होते हैं ॥६७॥

करटक आह—

करटक ने कहा—

'दुराराध्या हि राजानः पर्वता इव सर्वदा ।
व्यालाकीर्णाः सुविषमाः कठिना दुष्टसेविताः॥६८॥

पर्वत के समान राजा सदा कठिनाई से आराधनीय हैं। जिस प्रकार पर्वत सर्प आदि जीवों से आक्रान्त रहता है और पहाड़ी पृथ्वी नीची ऊँची और कठिन होती है उसी प्रकार दुष्टों द्वारा सेवित होने के कारण राजा कठिन (निर्दय) होता है ॥ ६८ ॥

तथा च—

और भी—

भोगिनः कञ्चुकाविष्टाः कुटिलाः क्रूरचेष्टिताः ।
सुदुष्टा मन्त्रसाध्याश्च राजानः पन्नगा इव ॥६९॥

जिस प्रकार सर्प फणधर, केंचुली से युक्त, टेढ़ा गमन करनेवाला, हिंसकवृत्ति वाला होता है और मन्त्र द्वारा वशीभूत होता है, उसी प्रकार राजा भोग में लीन रहनेवाला, सुन्दर वस्त्र धारण करनेवाला, कपटी, क्रूर चेष्टावाला होता है और वह दुष्ट, मन्त्र (गुप्त सलाह) द्वारा साध्य होता है ॥६९॥

द्विजिह्वाः क्रूरकर्माणोऽनिष्टाश्छिद्रानुसारिणः ।
दूरतोऽपि हि पश्यन्ति राजानो भुजगा इव ॥७०॥

जिस प्रकार सर्प दो जिह्वावाला, क्रूर कर्म करनेवाला, बिल में जानेवाला और तीक्ष्ण एवं प्रसारित दृष्टि के कारण दूर से देखनेवाला होता है उसी प्रकार राजा भी दो जीभवाला (कई प्रकार की बात कहनेवाला), क्रूरकर्मा, अनभिलषित दोष को दूर से (गुप्तचरों द्वारा) देखनेवाला होता है ॥७०॥

स्वल्पमप्यपकुर्वन्ति येऽभीष्टा हि महीपतेः ।
ते वह्नाविव दह्यन्ते पतङ्गाः पापचेतसः ॥७१॥

राजा के प्रियपात्र, जो थोड़ा सा भी उनका अपकार करते हैं, वे पापी पतङ्ग के समान, अग्नि में भस्म हो जाते हैं ॥७१॥

दुरारोहं पदं राज्ञां सर्वलोकनमस्कृतम् ।
'स्वल्पेनाप्यपकारेण ब्राह्मण्यमिव दुष्यति ॥७२॥

सब लोगों से नमस्कार के योग्य, राजा का पद अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होता है, जो थोड़े से अपकार के कारण ब्रह्मतेज की भाँति दूषित हो जाता है ॥

दुराराध्याः श्रियो राज्ञां दुरापा दुष्परिग्रहाः ।
तिष्ठन्त्याप इवाधारे चिरमात्मनि संस्थिताः' ॥७३॥

राज्यलक्ष्मी कठिनाई से आराधनीय होती है अतः उन्हें प्राप्त करने एवं रक्षा करने में बड़ी कठिनाई होती है । लक्ष्मी, पात्र में जल के समान, बहुत दिन तक अपने पास याने स्वयं देखभाल करने से ही, रक्षित रह सकती हैं ॥७३॥

दमनक आह—'सत्यमेतत् परम् । किन्तु—

दमनक ने कहा—यह परम सत्य है, परन्तु—

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन समाचरेत् ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥७४॥

जिसका-जिसका जो भाव है उसके उसके साथ उसी प्रकार आचरण करे । फिर बुद्धिमान् उसमें प्रवेश कर (अर्थात् प्रभु के आशय को समझ कर) शीघ्र अपने वश में लावे ॥७४॥

भर्तुश्चिन्तानुवर्तित्वं सुवृत्तं चानुजीविनाम् ।
राक्षसाश्चापि गृह्यन्ते नित्यं छन्दानुवर्तिभिः ॥७५॥

मालिक की इच्छा के अनुकूल आचरण करना, उनके द्वारा अनुजीविका प्राप्त लोगों की वृत्ति है । उनके कथनानुसार कार्य करनेवाले लोग, राक्षस को भी वश में कर लेते हैं ॥७५॥

सरुषि नृपे स्तुतिवचनं तदभिमते प्रेम तद्द्विषि द्वेषः ।
तद्दानस्य च शंसा अमन्त्रतन्त्रं वशीकरणम्' ॥७६॥

राजा के कोप करने पर स्तुतिवाक्य, मनोवाञ्छित करने पर प्रेम, उसके

१ आशयानुगामिभिः जनैः ।

द्वेषियों से द्वेष, और उसके दान की प्रशंसा—ये बिना मन्त्र तन्त्र के वश करने के साधन (वशीकरण मन्त्र) हैं॥७६॥

करटक आह—

करटक ने कहा—

'यद्येवमभिमतं तर्हि शिवास्ते पन्थानः सन्तु। यथाभिलषितमनुष्ठीयताम्।' सोऽपि प्रणम्य पिङ्गलकाभिमुखं प्रतस्थे।

यदि यही विचार है तो आपका मार्ग कल्याणकारक हो। अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कीजिए।' उसने भी प्रणामकर पिङ्गलक की ओर प्रस्थान किया।

अथाऽऽगच्छन्तं दमनकमालोक्य पिङ्गलको द्वाःस्थमब्रवीत्—'अपसार्यतां वेत्रलता। अयमस्माकं चिरन्तनो मन्त्रिपुत्रो दमनकोऽव्याहतप्रवेशः। तत्प्रवेश्यतां द्वितीयमण्डलभागी' इति।

दमनक को आते हुए देखकर पिङ्गलक ने द्वारपाल से कहा—'बेंत की छड़ी दूर करो। हमारा यह प्राचीन मन्त्री का पुत्र दमनक है जिसके प्रवेश करने में कोई रुकावट नहीं है। इस दूसरी श्रेणी के अधिकारी को प्रवेश करने दो।'

स आह—'यथावादीद्भवान्' इति। अथोपसृत्य दमनको निर्दिष्ट आसने पिङ्गलकं प्रणम्य प्राप्तानुज्ञ उपविष्टः। स तु तस्य नखकुलिशालङ्कृतं दक्षिणपाणिमुपरि दत्त्वा मानपुरःसरमुवाच—'अपि शिवं भवतः? कस्माच्चिराद्दृष्टोऽसि।'

उसने कहा—जैसी आप आज्ञा दें। तब दमनक पास जाकर निर्दिष्ट आसन पर, पिङ्गलक को प्रणाम कर और आज्ञा प्राप्त कर, बैठा। वह (पिङ्गलक) वज्रसदृश नख से विभूषित दहिने हाथ को उसके ऊपर रखकर स-सम्मान बोला—'कहिए, कुशलपूर्वक तो हैं? आप तो बहुत दिन के बाद दिखाई पड़े।'

दमनक आह—'न किञ्चिद्देवपादानामस्माभिः प्रयोजनम्। परं भवतां प्राप्तकालं वक्तव्यम्, यत उत्तममध्यमाधमैः सर्वैरपि राज्ञां प्रयोजनम्।

दमनक ने कहा—'यद्यपि महाराज के चरणों को हम से कुछ प्रयोजन नहीं है, तथापि समयानुकूल बात कहना उपयुक्त ही है क्योंकि उत्तम, मध्यम, और अधम—सबों से राजाओं का प्रयोजन रहता है।

उक्तं च—

कहा भी है—

दन्तस्य निष्कोषणकेन नित्यं कर्णस्य कण्डूयनकेन वापि।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किमङ्ग ! वाग्घस्तवता नरेण ॥७७॥

जहाँ दाँत के खोदनेवाले अथवा नित्य कान के खुजानेवाले तिनके से भी राजाओं का काम होता है, फिर हे भगवन् ! वाणी और हस्तवाले मनुष्य के द्वारा जो होता है उसके लिए कहना ही क्या है ॥७७॥

तथा वयं देवपादानामन्वयागता भृत्या आपत्स्वपि पृष्ठगामिनो यद्यपि स्वमधिकारं न लभामहे तथापि देवपादानामेतद्युक्तं न भवति।

हम जो महाराज के चरणों के वंशक्रमागत अनुचर हैं और आपत्तिकाल में अनुसरण करनेवाले हैं यद्यपि इस समय अपने पद को प्राप्त नहीं हैं तो क्या ? महाराज के चरणों के यह योग्य नहीं है।

उक्तं च—

कहा भी है—

स्थानेष्वेव नियोक्तव्या भृत्याश्चाभरणानि च।
न हि चूडामणिः पादे प्रभवामीति बध्यते ॥७८॥

अनुचर और आभूषण—इनको (उचित) स्थान पर नियुक्त करना चाहिए। क्योंकि मैं समर्थ हूँ, ऐसा समझ कर चूड़ामणि को कोई चरण पर नहीं धारण करता है ॥७८॥

यतः—

क्योंकि—

अनभिज्ञो गुणानां यो न भृत्यैरनुगम्यते।
धनाढ्योऽपि कुलीनोऽपि क्रमायातोऽपि भूपतिः ॥७९॥

अनुचर उनका साथ नहीं देते जो गुणियों के गुणों से अनभिज्ञ होते हैं—चाहे वह धनी, उच्चकुल में उत्पन्न, और पीढ़ी-दर-पीढ़ी राजा क्यों न होता आया हो ॥७९॥

उक्तं च—

कहा भी है—

असमैः समीयमानः समैश्च परिहीयमाणसत्कारः।
धुरि यो न युज्यमानस्त्रिभिरर्थपतिं त्यजति भृत्यः ॥८०॥

जिस अनुचर की समानता, समानता न करने योग्य अनुचर के साथ, की जाय; समानता करने योग्य अनुचरों से दूर रखा जाय, (अर्थात् एक के प्रति अनुकूल और दूसरे के प्रति प्रतिकूल व्यवहार किया जाय) और जो कार्य-भार में आगे लगाया न जाय—इन तीन कारणों से नौकर राजा को छोड़ देता है ॥८०॥

यच्चाविवेकितया राजा भृत्यानुत्तमपदयोग्यान् हीनाधमस्थाने नियोजयति, न ते तत्रैव तिष्ठन्ति, स भूपतेर्दोषो न तेषाम्।

विवेकहीन होने के कारण जो राजा उत्तमपद के योग्य अनुचरों को अधम पद पर रखता है तो वे अनुचर उस पद पर स्थित नहीं रहते। इसमें राजा का दोष है, उनका नहीं।

उक्तं च—

कहा भी है—

कनकभूषणसंग्रणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रतिबध्यते।
न स विरौति न चापि स शोभते भवति योजयितुर्वचनीयता ॥८१॥

सुवर्ण के भूषण में लगाने योग्य मणि यदि निकृष्ट धातु राँगा में लगायी जाय तो वह मणि न रोती है और न शोभित होती है, किन्तु उस स्थान पर लगानेवाले की ही निन्दा होती है ॥८१॥

यच्च स्वाम्येवं वदति 'चिराद्दृश्यते', तदपि श्रूयताम्—

और जो स्वामी ने यह कहा है कि 'बहुत दिन के बाद दिखाई पड़े' सो उसे भी सुन लीजिए—

सव्यदक्षिणयोर्यत्र विशेषो नास्ति हस्तयोः।
कस्तत्र क्षणमप्यार्यो विद्यमानगतिर्वसेत् ? ॥८२॥

जहाँ पर दहिने बाएँ हाथ की विशेषता नहीं है वहाँ अविरुद्ध गतिवाला

(चलतापुर्जा) कौन आर्य (नीतिज्ञ विद्वान्) क्षण मात्र भी रहने की इच्छा करेगा ? ॥८२॥

काचे मणिर्मणौ काचो येषां बुद्धिर्विकल्पते ।
न तेषां सन्निधौ भृत्यो नाममात्रोऽपि तिष्ठति ॥८३॥

जिसकी बुद्धि काँच में मणि और मणि में काँच की कल्पना करती है उसके समीप नाममात्र के लिए भी अनुचर लोग नहीं रहते ॥८३॥

परीक्षका यत्र न सन्ति देशे नार्घन्ति रत्नानि समुद्रजानि ।
आभीरदेशे किल चन्द्रकान्तं त्रिभिर्वराटैर्विपणन्ति गोपाः ॥८४॥

जहाँ जाँच करनेवाले पारखी लोग नहीं होते वहाँ समुद्र से निकले हुए रत्नों का मूल्य नहीं होता । यह कहा जाता है कि आभीर देश में गोप लोग चन्द्रकान्त-मणि को तीन कौड़ी में बेंचते खरीदते हैं ॥८४॥

लोहिताख्यस्य च मणेः पद्मरागस्य चान्तरम् ।
यत्र नास्ति कथं तत्र क्रियते रत्नविक्रयः ? ॥८५॥

जहाँ लोहित मणि (लाल) और पद्मरागमणि (मानिक) में अन्तर नहीं माना जाता वहाँ क्योंकर रत्नों की बिक्री हो सकती है ? ॥८५॥

निर्विशेषं यदा स्वामी समं भृत्येषु वर्तते ।
तत्रोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥८६॥

जब स्वामी सब अनुचरों के प्रति समान (विशेषतारहित) आचरण करता है तब उद्यमी अनुचरों का उत्साह टूट जाता है ॥८६॥

न विना पार्थिवो भृत्यैर्न भृत्याः पार्थिवं विना ।
तेषां च व्यवहारोऽयं परस्परनिबन्धनः ॥८७॥

विना अनुचरों के राजा नहीं रह सकते, और न राजा के बिना अनुचर रह सकते हैं । उनका यह व्यवहार आपस में एक दूसरे से सम्बन्ध रखनेवाला है ॥

भृत्यैर्विना स्वयं राजा लोकानुग्रहकारिभिः ।
मयूखैरिव दीप्तांशुस्तेजस्व्यपि न शोभते ॥८८॥

स्वयं राजा अनुचरों के बिना इस प्रकार शोभित नहीं होता जिस प्रकार

लोक पर कृपा करनेवाली किरणों के बिना अंशुमान् (सूर्य) शोभित नहीं होता ॥ ८८ ॥

अरैः सन्धार्यते नाभिर्नाभौ चाराः प्रतिष्ठिताः ।
स्वामिसेवकयोरेवं वृत्तिचक्रं प्रवर्तते ॥८९॥

जिस प्रकार पहिए की लकड़ी, बीच के छेद में और बीच के छेद पहिए की लकड़ी में स्थित रहते हैं उसी प्रकार स्वामी और सेवक का यह वृत्ति-चक्र घूमा करता है ॥८९॥

शिरसा विधृता नित्यं स्नेहेन परिपालिताः ।
केशा अपि विरज्यन्ते निःस्नेहाः किं न सेवकाः ? ॥९०॥

जिस प्रकार केशों को शिर नित्य धारण किए रहता है और स्नेह (तेल) से उनका पालन करता है किन्तु स्नेह (तेल) के बिना वे रुखे हो जाते हैं ! तो क्या सेवक स्नेह-हीन न हो जायँगे ? ॥९०॥

राजा तुष्टो हि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति ।
ते तु सम्मानमात्रेण प्राणैरप्युपकुर्वते ॥९१॥

राजा सन्तुष्ट होने पर, अनुचरों को केवल धन ही देता है, किन्तु वे (अनुचर) आदर मात्र ही से अपने प्राणों को (उसके लिए) लगा (न्योछावर कर) देते हैं ॥९१॥

एवं ज्ञात्वा नरेन्द्रेण भृत्याः कार्या विचक्षणाः ।
कुलीनाः शौर्यसंयुक्ताः शक्ता भक्ताः क्रमागताः ॥९२॥

इन सब (बातों) पर ध्यान देकर, राजा का कर्तव्य है कि ऐसे अनुचर रखे जो निपुण हों, कुलीन हों, शूर वीर हों, समर्थ हों, भक्त हों और कुल परम्परा से चले आये हों ॥९२॥

यः कृत्वा सुकृतं राज्ञो दुष्करं हितमुत्तमम् ।
लज्जया वक्ति नो किञ्चित् तेन राजा सहायवान् ॥९३॥

जो मनुष्य राजा का मङ्गल और दुष्कर उत्तम भलाई का कार्य कर के भी लज्जा के कारण (सङ्कोचवश) कुछ नहीं कहता उस के गुण से प्रभावित हो राजा उसकी सहायता करता है ॥९३॥

यस्मिन् कृत्यं समावेश्य निर्विशङ्केन चेतसा।
आस्यते सेवकः स स्यात् कलत्रमिव चापरम् ॥९४॥

जिस (सेवक) पर कार्य भार को शङ्कारहित चित्त से समावेश कर, राजा चिन्ता रहित हो जाता है ऐसा सेवक राजा के द्वारा दूसरी सहधर्मिणी के समान पोषण करने के योग्य है ॥९४॥

योऽनाहूतः समभ्येति द्वारि तिष्ठति सर्वदा।
पृष्टः सत्यं मितं ब्रूते स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥९५॥

जो विना बुलाये पास में खड़ा रहता है, हमेशा दरवाजे पर ही रहता है और प्रश्न करने पर सत्य और थोड़ा बोलता है ऐसा व्यक्ति राजा का अनुचर होने के योग्य है ॥९५॥

अनादिष्टोऽपि भूपस्य दृष्ट्वा हानिकरं च यः।
यतते तस्य नाशाय स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥९६॥

राजा द्वारा आदेश पाये बिना ही जो उसकी हानिकारक बात को देखकर, उसके नाश के लिए प्रयत्न करता है (अर्थात् काम बिगड़ने नहीं देता) ऐसा पुरुष राजा का अनुचर होने के योग्य है ॥९६॥

ताडितोऽपि दुरुक्तोऽपि दण्डितोऽपि महीभुजा।
यो न चिन्तयते पापं स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥९७॥

जिसे राजा मारता है, कुवचन कहता है और दण्ड देता है किन्तु इतना होने पर भी जो राजा का अशुभ (बुरा) नहीं सोचता है वह मनुष्य राजा का अनुचर होने के योग्य है ॥९७॥

न गर्वं कुरुते माने नापमाने च तप्यते।
स्वाकारं रक्षयेद्यस्तु स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥९८॥

जो सम्मान प्राप्त कर लेने पर अभिमान नहीं करता, अपमानित होने पर सन्तप्त नहीं होता और अपने मानापमान के भाव को राजा से छिपा लेता है ऐसा नर राजा का अनुचर होने के योग्य है ॥९८॥

न क्षुधा पीड्यते यस्तु निद्रया न कदाचन।
न च शीतातपाद्यैश्च स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥९९॥

जो कभी भी भूख, नींद, सर्दी और गरमी से घबड़ाता नहीं ऐसा व्यक्ति राजा का भृत्य होने के योग्य है ॥९९॥

श्रुत्वा सांग्रामिकीं वार्तां भविष्यां स्वामिनं प्रति ।
प्रसन्नास्यो भवेद्यस्तु स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥१००॥

जो भविष्य में होनेवाली संग्रामवार्ता को सुनकर स्वामी की सहायता के लि प्रफुल्लवदनवाला हो जाता है वह राजा का अनुचर होने के योग्य है ॥१००॥

सीमा वृद्धिं समायाति शुक्लपक्ष इवोडुराट् ।
नियोगसंस्थिते यस्मिन् स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥१०१॥

जिसके नियुक्त होने पर राजा की सीमा की वृद्धि, शुक्लपक्ष के नक्षत्र (चन्द्रमा) के समान, होती है वही मनुष्य राजाओं का अनुचर होने योग्य है ॥१०१॥

सीमा सङ्कोचमायाति वह्नौ चर्म इवाहितम् ।
स्थिते यस्मिन् स तु त्याज्यो भृत्यो राज्यं समीहता ॥१०२॥

जिस मनुष्य के रहने पर राजा की सीमा, अग्नि में निक्षिप्त चमड़े के तु संकुचित होती जाय तो राज्य-लोलुप (साम्राज्यवादी) नरपाल को चाहिए कि प्रकार के अनुचर को छोड़ देवे ॥१०२॥

तथा शृगालोऽयमिति मन्यमानेन ममोपरि स्वामिना यद्यव क्रियते, तदप्ययुक्तम् । उक्तं च यतः—

'यह सियार है' ऐसा समझकर यदि स्वामी मेरी अवज्ञा करें तो भी अनुचित है । क्योंकि कहा भी है—

कौशेयं कृमिजं सुवर्णमुपलाद्दूर्वापि गोरोमतः
पङ्कात् तामरसं शशाङ्क उदधेरिन्दीवरं गोमयात् ।
काष्ठादग्निरहेः फणादपि मणिर्गोपित्ततो रोचना
प्राकाश्यं स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किं जन्मना ? ॥१०३॥

कीड़ों से रेशम, पत्थर से स्वर्ण, गो-रोम से दूर्वा, कीचड़ से ता (लाल कमल), समुद्र से द्विजराज (चन्द्रमा), गोबर से इन्दीवर (कमल), काठ से आग, सर्प के फण से मणि, गोपित्त से गोरोचन

होता है। ठीक है, गुणी लोग अपने गुणों के उदय होने के कारण ही प्रकाशित होते हैं, न कि केवल जन्म लेने से ॥१०३॥

मूषिका गृहजातापि हन्तव्या स्वापकारिणी।
भक्ष्यप्रदानैर्मार्जारो हितकृत्प्रार्थ्यते जनैः ॥१०४॥

लोग घर में उत्पन्न अपने अपकार करनेवाले चूहे को मारते हैं और हित करनेवाले बिलाव को आहार देकर उसका सत्कार करते हैं ॥१०४॥

एरण्ड-भिण्डाऽर्क-नलैः प्रभूतैरपि सञ्चितैः।
दारुकृत्यं यथा नास्ति तथैवाज्ञैः प्रयोजनम् ॥१०५॥

जिस प्रकार बहुत से एरण्ड (रेड) भिण्ड, आक (मन्दार) और नल (नामक शाक) को इकट्ठा करने से हो काष्ठ का प्रयोजन नहीं निकलता उसी प्रकार अनभिज्ञों से कोई प्रयोजन नहीं निकलता ॥१०५॥

किं भक्तेनासमर्थेन ? किं शक्तेनापकारिणा ?।
भक्तं शक्तं च मां राजन् ! नावज्ञातुं त्वमर्हसि' ॥१०६॥

असमर्थ भक्त से क्या काम ? और समर्थ अपकार करनेवाले से क्या काम ? हे राजन् ! मुझ भक्त (अनुरक्त) तथा समर्थ अनुचर के निरादर करने के योग्य आप नहीं हैं ॥१०६॥

पिङ्गलक आह—'भवत्वेवं तावत्। असमर्थः समर्थो वा चिरन्तनस्त्वमस्माकं मन्त्रिपुत्रः। तद्विश्रब्धं ब्रूहि यत्किञ्चिद्वक्तुकामः।'

पिङ्गलक ने कहा—अच्छा, इसे रहने दो। असमर्थ हो अथवा समर्थ, तुम मेरे प्राचीन मन्त्री के पुत्र हो अतः जो कुछ तुम्हें कहना हो विश्वासपूर्वक (बे-खटके) कहो।

दमनक आह—'देव, विज्ञाप्यं किञ्चिदस्ति।'

दमनक ने कहा—'महाराज ! कुछ कहना है।'

पिङ्गलक आह—'तन्निवेदयाभिप्रेतम्।' सोऽब्रवीत्—

पिङ्गलक ने कहा—तो अपना अभिप्राय निवेदन करो। उसने कहा—

'अपि स्वल्पतरं कार्यं यद्भवेत् पृथिवीपतेः।
तन्न वाच्यं सभामध्ये प्रोवाचेदं बृहस्पतिः ॥ १०७ ॥

'यदि राजा का अत्यन्त अल्प कार्य भी हो तो उसे सभा में नहीं कहना चाहिए'—ऐसा बृहस्पति ने कहा है ॥ १०७ ॥

तदैकान्तिके मद्विज्ञाप्यमाकर्णयन्तु देवपादाः । यतः—

इसलिए महाराज-चरण एकान्त में मेरी बात सुनें । क्योंकि—

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णः स्थिरो भवेत् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन षट्कर्णं वर्जयेत् सुधीः ॥ १०८ ॥

छ कानों (तीन मनुष्यों) द्वारा मन्त्रणा प्रकट हो जाती है और चार कर्णों (दो मनुष्यों) द्वारा स्थिर रहती है । इसलिए विद्वान् को चाहिए कि ऐसा प्रयत्न करे जिससे षट्कर्ण (तीसरे) को ज्ञात न हो ॥ १०८ ॥

अथ पिङ्गलकाभिप्रायज्ञा व्याघ्रद्वीपिवृकपुरःसराः सर्वेऽपि तद्वचः समाकर्ण्य संसदि तत्क्षणादेव दूरीभूताः ।

तब पिङ्गलक के अभिप्राय जाननेवाले बाघ, चीते, भेड़िये आदि सब जानवर, उसके वचन को सुनकर, सभा से उसी क्षण दूर हट गये ।

ततश्च दमनक आह—उदकग्रहणार्थं प्रवृत्तस्य स्वामिनः किमिह निवृत्त्यावस्थानम् ।'

इसके अनन्तर दमनक ने कहा—पानी पीने के लिए गए हुए स्वामी लौटकर यहाँ आकर क्यों बैठ गये ?

पिङ्गलक आह सविलक्षस्मितम्—'न किञ्चिदपि ।'

पिङ्गलक ने लज्जित हो मन्द २ मुस्कराते हुए कहा—कुछ भी (कारण) नहीं है ।

सोऽब्रवीत्—'देव, यद्यनाख्येयं तत्तिष्ठतु । उक्तं च—

उसने कहा—भगवन् ! यदि वह कहने के योग्य न हो तो रहने दीजिए। क्योंकि कहा है—

दारेषु किञ्चित् स्वजनेषु किञ्चिद्गोप्यं वयस्येषु सुतेषु किञ्चित् ।
युक्तं न वा युक्तमिदं विचिन्त्य वदेद्विपश्चिन्महतोऽनुरोधात् ॥१०९

कुछ स्त्रियों से, कुछ स्वजनों से, कुछ समानवयस्क मित्र से, कुछ पुत्रों से गु

रखे। 'यह युक्त (उचित) है या नहीं' ऐसा विचार कर विपश्चित् (ज्ञानवान्) को चाहिए कि बड़े लोगों के अनुरोध से गोपनीय कहे ॥ १०६ ॥

तच्छ्रुत्वा पिङ्गलकश्चिन्तयामास—'योग्योऽयं दृश्यते। तत्कथयाम्ये-तस्याग्रे आत्मनोऽभिप्रायम्। उक्तं च—

उसको सुनकर पिङ्गलक ने विचार किया कि 'यह तो योग्य मालूम होता है। अतः इसके सम्मुख अपने अभिप्राय को कह दूँ।' कहा भी है—

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्येऽनुवर्तिनि कलत्रे।
स्वामिनि सौहृदयुक्ते निवेद्य दुःखं सुखी भवति ॥११०॥

अनन्य हृदयवाले मित्र के प्रति, गुणवान् अनुचर के प्रति, अनुगामिनी भार्या के प्रति, सौहार्द युक्त स्वामी के प्रति अपना दुःख कह कर मनुष्य सुखी होता है ॥११०॥

भो दमनक, शृणोषि शब्दं दूरान्महान्तम्।'

'अरे दमनक! क्या तू दूर से (यह जो) बड़ी भारी आवाज (आ रही है उस) को सुन रहे हो।'

सोऽब्रवीत्—स्वामिन्, शृणोमि। ततः किम्?'

उसने कहा—'स्वामिन्! मैं सुनता हूँ। लेकिन उस (शब्द) से क्या?'

पिङ्गलक आह—'भद्र, अहमस्माद्वनाद्गन्तुमिच्छामि।'

पिङ्गलक ने कहा—'प्रियवर! मैं इस जङ्गल से चले जाने की इच्छा करता हूँ।'

दमनक आह—'कस्मात्?'

दमनक ने पूछा कि 'क्यों'?

पिङ्गलक आह—'यतोऽद्यास्मद्वने किमप्यपूर्वसत्त्वं प्रविष्टं यस्यायं महाशब्दः श्रूयते। तस्य च शब्दानुरूपेण पराक्रमेण भाव्यम्' इति।

पिङ्गलक ने कहा—'इसलिए कि आज इस वन में कोई अपूर्व प्राणी आया है, जिसकी यह भारी आवाज़ सुनाई पड़ रही है। इसलिए इस शब्द के समान ही उसका पराक्रम (बल) भी होगा।

दमनक आह—'यच्छब्दमात्रादपि भयमुपगतः स्वामी, तदप्ययुक्तम्। उक्तं च—

दमनक ने कहा—'यदि शब्द मात्र ही से स्वामी भययुक्त हो गये, तो मैं यह उचित नहीं है।' कहा है—

अम्भसा भिद्यते सेतुस्तथा मन्त्रोऽप्यरक्षितः।
पैशुन्याद्भिद्यते स्नेहो भिद्यते वाग्भिरातुरः ॥१११॥

जिस प्रकार जल से सेतु (पुल, बाँध, चह) टूट जाता है, उसी प्रकार सलाह की बात भी अरक्षित रखने से भेद को प्राप्त होती है। चुगली से स्नेह और आतुर (घबड़ाए हुए) लोग कड़ी वाणी द्वारा भेद को प्राप्त होते हैं ॥१११॥

तन्न युक्तं स्वामिनः पूर्वोपार्जितं वनं त्यक्तुम्। यतो भेरीवेणुवीणा-मृदङ्गतालपटहशङ्खादिभेदेन शब्दा अनेकविधा भवन्ति। तन्न केवलाच्छब्दमात्रादपि भेतव्यम्। उक्तं च—

इसलिए पूर्वजों द्वारा उपार्जित वन को छोड़ना स्वामी के लिए उचित नहीं है। क्योंकि भेरी (नगाड़ा), वेणु (वंशी), वीणा (बीन बाजा), मृदङ्ग, ताल, पटह (ढक्का वाद्य), शङ्ख, काहल (शहनाई) आदि के भेद से शब्द अनेक प्रकार के होते हैं। इसलिए केवल शब्दमात्र ही से न डरना चाहिए।' कहा भी है—

अत्युत्कटे च रौद्रे च शत्रौ प्राप्ते न हीयते।
धैर्यं यस्य महीनाथो न स याति पराभवम् ॥११२॥

अतीव भीषण शत्रु के प्राप्त होने पर भी, जिसके धैर्य में कमी नहीं होती वह राजा पराभव को प्राप्त नहीं होता ॥११२॥

दर्शितभयेऽपि धातरि धैर्यध्वंसो भवेन्न धीराणाम्।
शोषितसरसि निदाघे नितरामेवोद्धतः सिन्धुः ॥११३॥

विधाता के भय दिखाने पर भी धैर्यवानों का धैर्य नष्ट नहीं होता। क्योंकि सरोवरों को सुखाने वाले ग्रीष्म समय में भी सागर अत्यन्त उग्र रूप को धारण करता है अर्थात् बढ़ता है ॥११३॥

तथा च—

और भी—

यस्य न विपदि विषादः सम्पदि हर्षो रणे न भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥११४॥

जिसे आपत्ति में विषाद, सम्पत्ति में हर्ष, और रण में भीरुता नहीं होती ऐसा तीनों लोकों के तिलक-तुल्य पुत्र विरले ही माता उत्पन्न करती है ॥११४॥

तथा च—

और—

शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वाल्लघीयसः ।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ॥११५॥

शक्ति के न चलने पर (सामर्थ्याभाव से) नम्र होना, सारहीन होने से अति लघु तथा सम्मानरहित व्यक्ति का जन्मधारण करना तृण पैदा होने के समान होता है अर्थात् शक्तिहीन, निस्तेज तथा अपमानित पुरुषों का जीवन तृण के समान असार है ॥११५॥

अपि च—

और भी—

अन्यप्रतापमासाद्य यो दृढत्वं न गच्छति ।
जतुजाभरणस्येव रूपेणापि हि तस्य किम् ? ॥११६॥

जो अन्य के प्रताप को पाकर भी दृढ़ नहीं होता तो, लाक्षा (लाख) के भूषण की भाँति उसके (बाह्य) रूप से क्या लाभ ? ॥११६॥

तदेवं ज्ञात्वा स्वामिना धैर्यावष्टम्भः कार्यः । न शब्दमात्राद्भेतव्यम् ।

अतः यह सब जानकर स्वामी को चाहिए कि धैर्य धारण करें, केवल शब्द-मात्र ही से भयभीत न हों ।

उक्तं च—

कहा भी है—

पूर्वमेव मया ज्ञातं 'पूर्णमेतद्धि मेदसा ।
अनुप्रविश्य विज्ञातं यावच्चर्म च दारु च' ॥११७॥

मैंने भी पूर्व में अच्छी तरह जान लिया था कि यह मज्जा से भरा है, पश्चात् प्रवेश कर मालूम किया कि यह केवल चर्म और दारु ही है ॥११७॥

पिङ्गलक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

पिङ्गलक ने पूछा—'यह कैसी कथा है ?' उसने कहा—

कथा (२)

कश्चिद्गोमायुर्नाम शृगालः क्षुत्क्षामकण्ठ इतस्ततः परिभ्रमद्वने सैन्यद्वयसंग्रामभूमिमपश्यत्। तस्यां च दुन्दुभेः पतितस्य वायुवशाद्वल्ली-शाखाग्रैर्हन्यमानस्य शब्दमश्रृणोत्।

किसी गोमायु नाम के गीदड़ ने, भूख से शुष्क कण्ठ होकर इधर उधर भ्रमण करता हुआ जङ्गल में दो सेनाओं की युद्धभूमि को देखा। वहाँ गिरी हुई दुन्दुभि (नौबत) के, वायु के कारण लता और शाखाओं के अग्रिम भाग के ताड़न करने से उत्पन्न, शब्द को उसने सुना।

अथ क्षुभितहृदयश्चिन्तयामास—'अहो, विनष्टोऽस्मि। तद्यावन्नास्य प्रोच्चारितशब्दस्य दृष्टिगोचरे गच्छामि, तावदन्यतो व्रजामि। अथवा नैतद्युज्यते सहसैव पितृपैतामहं वनं त्यक्तुम्। उक्तञ्च—

तब विषण्ण-हृदय होकर चिन्ता करने लगा—'अहो! अब मैं नष्ट हुआ। इस लिए जब तक इस शब्द करनेवाले के दृष्टि-पथ में न पड़ूँ तब तक मैं अन्यत्र चला जाऊँ। अथवा, एकाएक पिता और पितामहों का वन छोड़ देना यह भी तो उचित नहीं है, क्योंकि कहा भी है—

भये वा यदि वा हर्षे सम्प्राप्ते यो विमर्शयेत्।
कृत्यं न कुरुते वेगान्न स सन्तापमाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

भय अथवा हर्ष के प्राप्त होने पर जो अच्छी तरह विचार करता है और किसी कार्य को शीघ्रतावश नहीं करता उसे सन्ताप की प्राप्ति नहीं होती ॥११८॥

तत्तावज्जानामि कस्यायं शब्दः।' धैर्यमालम्ब्य विमर्शयन् यावन्मन्दं मन्दं गच्छति तावद्दुन्दुभिमपश्यत्।

इसलिए पहले मुझे जानना चाहिए कि 'यह किसका शब्द है ?' जब धैर्य धारण कर, विचार करता हुआ धीरे २ गया तो उसने दुन्दुभि देखी।

स च तं परिज्ञाय समीपं गत्वा स्वयमेव कौतुकादताडयत्। भूयश्च हर्षादचिन्तयत्—अहो! चिरादेतदस्माकं महद्भोजनमापतितम्। तन्नूनं प्रभूतमांसमेदोसृग्भिः परिपूरितं भविष्यति।

उसने उसे जानकर सन्निकट जाकर, स्वयं ही कुतूहलवश ताड़न किया। बाद में हर्षपूर्वक सोचने लगा। 'अहो! बहुत दिन के बाद यह बड़ा भारी (पर्याप्त) भोजन मुझे मिला है। सो यह निःसन्देह बहुत मांस, मेद (चरबी) और रक्त से परिपूर्ण होगा।'

ततः परुषचर्मावगुण्ठितं तत्कथमपि विदार्यैकदेशे छिद्रं कृत्वा संहृष्टमना मध्ये प्रविष्टः। परं चर्मविदारणतो दंष्ट्राभङ्गः समजनि। अथ निराशीभूतस्तद्दारुशेषमवलोक्य श्लोकमेनमपठत्—'पूर्वमेव मया ज्ञातम्' इति। ततो न शब्दमात्राद्भेतव्यम्।'

इसके अनन्तर कठोर चमड़े से मढ़े हुए उस (दुन्दुभि) को किसी प्रकार फाड़कर, एक स्थान पर छेद कर, हर्षचित्त हो उसमें प्रवेश किया। परन्तु चमड़े के फाड़ने से उसकी दाढ़ें टूट गयीं। तब निराश होकर केवल काष्ठ मात्र को देखकर इस श्लोक को पढ़ा "मैंने पूर्व ही जान लिया था' इत्यादि। इसलिए केवल शब्द से न भयभीत होना चाहिए।

पिङ्गलक आह—'भो! पश्याऽयं मम सर्वोऽपि परिग्रहो भयव्याकुलितमनाः पलायितुमिच्छति। तत्कथमहं धैर्यावष्टम्भं करोमि?'

पिङ्गलक ने कहा—'अरे! देखो तो यह मेरे सब परिजन भय से व्याकुल चित्तवाले होकर, भागने की इच्छा करते हैं। तब मैं क्योंकर धैर्य धारण करूँ?'

सोऽब्रवीत्—'स्वामिन्! नैषामेष दोषः। यतः स्वामिसदृशा एव भवन्ति भृत्याः। उक्तं च—

उसने कहा—'स्वामिन्! इसमें इनका दोष नहीं है। क्योंकि स्वामी के सदृश ही अनुचर हुआ करते हैं। कहा भी है—

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च।
पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्त्ययोग्याश्च योग्याश्च॥ ११९॥

घोड़ा, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, नर और नारी—ये पुरुष विशेष को प्राप्त होकर योग्य अथवा अयोग्य हो जाते हैं॥ ११९॥

तत्पौरुषावष्टम्भं कृत्वा त्वं तावदत्रैव प्रतिपालय, यावदहमेतच्छब्द-स्वरूपं ज्ञात्वाऽऽगच्छामि। ततः पश्चाद्यथोचितं कार्यम्' इति।

इसलिए हिम्मत बाँधकर तुम तब तक यहीं रहो, जब तक मैं इस शब्द के स्वरूप (कारण) को जानकर न आऊँ। उसके बाद जैसा उचित हो वैसा करना।'

पिङ्गलक आह—किं तत्र भवान् गन्तुमुत्सहते ?' स आह—'किं स्वाम्यादेशात् सुभृत्यस्य कृत्यमकृत्यमस्ति ?। उक्तं च—

पिङ्गलक ने कहा—क्या वहाँ जाने की आप सामर्थ्य (उत्साह) रखते हैं! उसने कहा—'स्वामी के आदेश से अच्छे अनुचर को कृत्य (करने योग्य है) और अकृत्य (न करने योग्य है) के विषय में विचार ही क्या करना है!' कहा है—

स्वाम्यादेशात् सुभृत्यस्य न भीः सञ्जायते क्वचित्।
प्रविशेन्मुखमाहेयं दुस्तरं वा महार्णवम् ॥१२०॥

अधिपति की आज्ञा से अच्छे अनुचर को कहीं भी भय का सञ्चार नहीं होता, चाहे सर्प के मुख में प्रवेश कर जाँय अथवा दुस्तर महासागर भी तैर जाँय ॥१२०॥

तथा च—

वैसे ही—

स्वाम्यादिष्टस्तु यो भृत्यः समं विषममेव च।
मन्यते न स सन्धार्यो भूभुजा भूतिमिच्छता' ॥१२१॥

स्वामी से आदेश पाया हुआ जो अनुचर उस (आदेश) को सम (सरल) अथवा विषम (कठिन) नहीं मानता है, ऐसे अनुचर को ऐश्वर्य की कामना करनेवाले राजाओं को चाहिए कि अपने समीप रखें ॥१२१॥

पिङ्गलक आह—'भद्र ! यद्येवं तद्गच्छ। शिवास्ते पन्थानः सन्तु' इति। दमनकोऽपि तं प्रणम्य सञ्जीवकशब्दानुसारी प्रतस्थे।

पिङ्गलक ने कहा—'भद्र ! यदि ऐसा है, तो जाओ। तुम्हारा कार्य कल्याणकारी हो!' दमनक भी उसे प्रणाम कर सञ्जीवक के शब्द का अनुसरण करते हुए चला।

अथ दमनके गते भयव्याकुलमनाः पिङ्गलकश्चिन्तयामास—'अहो ! न शोभनं कृतं मया, यत् तस्य विश्वासं गत्वाऽऽत्माभिप्रायो निवेदितः। कदाचिद्दमनकोऽयमुभयवेतनो भूत्वा ममोपरि दुष्टबुद्धिः स्याद्भ्रष्टाधिकारत्वात्। उक्तं च—

तब दमनक के चले जाने पर भय से व्याकुल मनवाला होकर पिङ्गलक ने विचार किया, कि 'अहो ! मैंने अच्छा नहीं किया जो उसका विश्वास कर, अपना अभिप्राय उससे निवेदन कर दिया। कदाचित् दोनों ओर से वेतन प्राप्तकर (भेदिया बनकर) यह दमनक मेरे ऊपर अधिकार च्युत होने के कारण दुष्ट बुद्धिवाला हो जाय !' कहा भी है—

ये भवन्ति महीपस्य सम्मानितविमानिताः।
यतन्ते तस्य नाशाय कुलीना अपि सर्वदा ॥१२२॥

जो राजा से प्रथम सम्मानित हो, बाद में अपमानित होते हैं वे उसके नाश के लिए सर्वदा प्रयत्न किया करते हैं, चाहे कुलीन ही क्यों न हों ॥१२२॥

तत् तावदस्य चिकीर्षितं वेत्तुमन्यत् स्थानान्तरं गत्वा प्रतिपालयामि। कदाचिद्दमनकस्तमादाय मां व्यापादयितुमिच्छति। उक्तं च—

सो तब तक इसका सङ्कल्प (इरादा) जानने के लिये किसी अन्य स्थान पर जाकर रहूँ। कदाचित् दमनक उसको लेकर (अर्थात् उसकी सहायता से) मुझे मार डालने की इच्छा करता हो। कहा भी है—

न बध्यन्ते ह्यविश्वस्ता बलिभिर्दुर्बला अपि।
विश्वस्तास्त्वेव बध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ॥१२३॥

किसी का विश्वास न करने वाले निर्बल को भी सबल नहीं मार सकते; किन्तु सब पर विश्वास रखने वाले बलवान् भी निर्बलों से मारे जा सकते हैं ॥१२३॥

बृहस्पतेरपि प्राज्ञो न विश्वासं व्रजेन्नरः।
य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यं च सुखानि च ॥१२४॥

जिसे अपनी आयु की वृद्धि और सुख की अभिलाषा हो तो उस बुद्धिमान् को चाहिए कि बृहस्पति का भी विश्वास न करे ॥१२४॥

शपथैः सन्धितस्यापि न विश्वासं व्रजेद्रिपोः।
राज्यलाभोद्यतो वृत्रः शक्रेण शपथैर्हतः ॥१२५॥

सौगन्ध से कृतसन्ध (सन्धि किए गए) शत्रु का भी विश्वास न करे। (उदाहरण-स्वरूप) राज्य के लोभ से उद्यत हुए वृत्रासुर को इन्द्र ने शपथ द्वारा ही तो (विश्वस्त करके) मारा ॥१२५॥

न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिद्धयति ।
विश्वासात् त्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारितः' ॥१२६॥

देवताओं का शत्रु भी विना विश्वास दिखाने से वश में नहीं होता, विश्वास ही से तो इन्द्र ने दिति (कश्यप की पत्नी) के गर्भ को नष्ट कर दिया ॥१२६॥

एवं सम्प्रधार्य स्थानान्तरं गत्वा दमनकमार्गमवलोकयन्नेकाकी तस्थौ ।

इस प्रकार निश्चय कर, दूसरे स्थान पर जाकर, दमनक की राह देखता हुआ अकेला बैठा ।

दमनकोऽपि सञ्जीवकसकाशं गत्वा 'वृषभोऽयमिति' परिज्ञाय हृष्टमना व्यचिन्तयत्—'अहो, शोभनमापतितम् । अनेनैतस्य सन्धिविग्रह-द्वारेण मम पिङ्गलको वश्यो भविष्यती'ति । उक्तं च—

दमनक भी सञ्जीवक के पास जाकर, 'यह बैल है' ऐसा जान कर, प्रसन्नचित्त हो विचार करने लगा—'अहो ! बड़ा अच्छा हुआ ! इसके साथ उसकी सन्धि (मित्रता) और विग्रह (सन्धिविच्छेद) होने से पिङ्गलक मेरे वश में आ जायगा ।' कहा भी है—

न कौलीनान्न सौहार्दान्नृपो वाक्ये प्रवर्तते ।
मन्त्रिणां यावदभ्येति व्यसनं शोकमेव च ॥१२७॥

कुलीनता और सौहार्द के कारण राजा मन्त्रियों के वाक्य को तब तक नहीं मानता, जब तक स्वयं उसको व्यसन (विपत्ति) और शोक की प्राप्ति नहीं होती ॥१२७॥

सदैवाऽऽपद्गतो राजा भोग्यो भवति मन्त्रिणाम् ।
अत एव हि वाञ्छन्ति मन्त्रिणः साऽऽपदं नृपम् ॥१२८॥

आपत्ति में फँसा हुआ राजा सदैव मन्त्रियों का भोग्य होता है । अतः मन्त्री लोग चाहते हैं कि राजा आपत्तियों में पड़ा रहे ॥१२८॥

यथा नेच्छति नीरोगः कदाचित् सुचिकित्सकम् ।
तथाऽऽपद्रहितो राजा सचिवं नाऽभिवाञ्छति' ॥१२९॥

जिस प्रकार रोगरहित मनुष्य कभी भी सद्वैद्य की इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार आपत्तिरहित राजा मन्त्री की चाह नहीं रखता ॥१२९॥

एवं विचिन्तयन् पिङ्गलकाभिमुखः प्रतस्थे। पिङ्गलकोऽपि तमायान्तं प्रेक्ष्य स्वाकारं रक्षन् यथापूर्वमवस्थितः। दमनकोऽपि पिङ्गलकसकाशं गत्वा प्रणम्योपविष्टः।

इस प्रकार सोचता हुआ पिङ्गलक की ओर चला। पिङ्गलक भी उसको आता हुआ देखकर, अपने आकार की रक्षा कर (अर्थात् अपने मनोविकार को छिपाता हुआ) पहले की तरह बैठ गया। दमनक भी पिङ्गलक के समीप जाकर, प्रणाम करके बैठ गया।

पिङ्गलक आह—'किं दृष्टं भवता तत्सत्त्वम् ?'

पिङ्गलक ने कहा—'क्या आपने उस प्राणी को देखा ?'

दमनक आह—'दृष्टं स्वामिप्रसादात्।' पिङ्गलक आह—'अपि सत्यम् ?' दमनक आह—'किं स्वामिपादानामग्रेऽसत्यं विज्ञाप्यते ? उक्तं च—

दमनक ने कहा—हाँ, स्वामी की कृपा से देखा। पिङ्गलक ने पूछा—'क्या सचमुच ?' दमनक ने कहा—'क्या स्वामी के चरणों के सम्मुख असत्य कहा जाता है ?' कहा भी है—

अपि स्वल्पमसत्यं यः पुरो वदति भूभुजाम्।
देवानां च विनश्येत स द्रुतं सुमहानपि ॥१३०॥

जो राजा और देवताओं के सम्मुख अत्यन्त अल्प भी असत्य कहता है वह बड़ा भी हो तो भी शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥१३०॥

तथा च—

और भी—

सर्वदेवमयो राजा मनुना सम्प्रकीर्तितः।
तस्मात् तं देववत् पश्येन्न व्यलीकेन कर्हिचित् ॥१३१॥

भगवान् मनु का कहना है कि राजा सर्वदेवमय है। इसलिये उसे देवता की भाँति देखे और अन्य किसी प्रकार से नहीं ॥१३१॥

* सर्वदेवमयस्याऽपि विशेषो नृपतेरयम् ।
शुभाऽशुभफलं सद्यो नृपाद्देवाद्भवान्तरे' ॥१३२॥

सर्वदेवमय होते हुए भी राजा की यह विशेषता है कि शुभ और अशुभ (कर्मों) का फल राजा से यहीं पर तुरन्त मिल जाता है; किन्तु देवताओं से तो जन्मान्तर में फल की प्राप्ति होती है ॥१३२॥

पिङ्गलक आह—'सत्यं दृष्टं भविष्यति भवता । न दीनोपरि महान्तः कुप्यन्तीति न त्वं तेन निपातितः । यतः—

पिङ्गलक ने पूछा—"आपने तो उसे सचमुच देखा होगा । 'बड़े लोग दुर्बलों के ऊपर क्रोधित नहीं होते' इस कारण उसने आपको नहीं मारा ।" क्योंकि—

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः ।
स्वभाव एवोन्नतचेतसामयं महान् महत्स्वेव करोति विक्रमम् ॥१३३॥

प्रभञ्जन (वायु)—मुलायम, नीचे हुए और सब ओर से नतशील तृण को—नहीं उखाड़ता । क्योंकि उच्च विचारवालों का यह स्वभाव ही है । बड़े लोग बड़ों ही के साथ पराक्रम दिखाया करते हैं ॥१३३॥

अपि च—

और भी—

गण्डस्थलेषु मदवारिषु बद्धराग-
मत्तभ्रमद्भ्रमरपादतलाहतोऽपि ।
कोपं न गच्छति नितान्तबलोऽपि नाग-
स्तुल्ये बले तु बलवान् परिकोपमेति" ॥१३४॥

मद के जल से भरे हुए कपोलों से प्रेम रखनेवाले, मत्त होकर मँडराते हुए भ्रमरों के चरणतलों से आहत होकर भी, अत्यन्त बलशाली हाथी (उन पर) कोप नहीं करता । क्योंकि बलवान् प्राणी अपने समान बलवालों पर ही कुपित होते हैं ॥ १३४ ॥

दमनक आह—'अस्त्वेवं स महात्मा, वयं कृपणाः, तथापि स्वामी यदि कथयति ततो भृत्यत्वे नियोजयामि ।'

* 'अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ।'

दमनक ने कहा—'यही बात हो, क्योंकि वह महात्मा है और हम दीन हैं। तथापि यदि स्वामी कहें तो उसे आपकी अनुचरवृत्ति में लगा दूँ (अर्थात्—उसे भी आपका नौकर बना दूँ)।'

पिङ्गलक आह सोच्छ्वासम्—'किं भवाञ्छक्नोत्येवं कर्तुम् ?' दमनक आह—'किमसाध्यं बुद्धेरस्ति ? उक्तं च—

पिङ्गलक ने ऊर्ध्वश्वास लेते हुए कहा – 'क्या आप ऐसा कर सकते हैं ?' दमनक ने कहा—'बुद्धि के द्वारा क्या नहीं साध्य है ?' कहा भी है—

न तच्छस्त्रैर्न नागेन्द्रैर्न हयैर्न पदातिभिः।
कार्यं संसिद्धिमभ्येति यथा बुद्ध्या प्रसाधितम्' ॥१३५॥

शस्त्र, हाथी, घोड़े, पैदल सेना से कार्य की जितनी सिद्धि नहीं होती, उतनी बुद्धि द्वारा हो जाती है ॥ १३५ ॥

पिङ्गलक आह—'यद्येवं तर्ह्यमात्यपदेऽध्यारोपितस्त्वम् । अद्य प्रभृति प्रसादनिग्रहादिकं त्वयैव कार्यमिति निश्चयः।'

पिङ्गलक ने कहा—'यदि ऐसा हो तो मन्त्रिपद पर तू आज से नियत हुआ। आज से अनुग्रह और निग्रह (पुरस्कार और दण्ड देना शासन की व्यवस्था) तुम ही करना—ऐसा मेरा निश्चय है।

अथ दमनकः सत्वरं गत्वा साक्षेपं तमिदमाह—'एह्येहीतो दुष्टवृषभ ! स्वामी पिङ्गलकस्त्वामाकारयति । किं निःशङ्को भूत्वा मुहुर्मुहुर्नदसि वृथा' इति ?

इसके अनन्तर दमनक ने, शीघ्रता से जाकर, आक्षेप करते (फटकारते) हुए, उससे कहा—इधर आ, इधर आ ! अरे दुष्ट वृषभ ! स्वामी पिङ्गलक तुम्हें बुलाते हैं। निडर होकर क्यों बार बार वृथा शब्द करता है ?

तच्छ्रुत्वा सञ्जीवकोऽब्रवीत्—'भद्र ! कोऽयं पिङ्गलकः' ? दमनक आह—'किं स्वामिनं पिङ्गलमपि न जानासि ? तत् क्षणं प्रतिपालय, फलेनैव ज्ञास्यसि। नन्वयं सर्वमृगपरिवृतो वटतले स्वामी पिङ्गलकनामा सिंहस्तिष्ठति।'

उसको सुनकर सञ्जीवक ने कहा—हे भद्र ! यह पिङ्गलक कौन है ? दमनक

ने कहा—'क्या तू स्वामी पिङ्गलक को भी नहीं जानता है ? थोड़ी देर ठहर जा, तुझे परिणाम से पता चल जायगा। निःसन्देह सब मृगों से युक्त वटवृक्ष के नीचे हमारा स्वामी पिङ्गलक नाम का सिंह बैठा हुआ है।

तच्छ्रुत्वा गतायुषमिवाऽऽत्मानं मन्यमानः सञ्जीवकः परं विषादमगमत्। आह च—

उसे सुनकर, अपने को आयुहीन मानता हुआ, सञ्जीवक अत्यन्त विषाद को प्राप्त हुआ। और कहा—

'भद्र! भवान् साधुसमाचारो वचनपटुश्च दृश्यते। तद्यदि मामवश्यं तत्र नयसि, तदभयप्रदानेन स्वामिनः सकाशात् प्रसादः कारयितव्यः।'

हे भद्र! आप साधुसमाचार (सज्जनोचित व्यवहार) और बात करने में बड़े निपुण मालूम पड़ते हैं। यदि मुझे अवश्य वहाँ आप ले चलना चाहते हों तो अभय देकर स्वामी के निकट से मुझे बचाने का अनुग्रह कराओ।

दमनक आह—'भोः! सत्यमभिहितं भवता। नीतिरेषा। यतः।

दमनक ने कहा—अरे! तूने सत्य कहा है। नीति ऐसी ही है (अर्थात् राजाओं का विश्वास न करना चाहिए) क्योंकि—

पर्यन्तो लभ्यते भूमेः समुद्रस्य गिरेरपि।
न कथञ्चिन्महीपस्य चित्तान्तः केनचित् क्वचित् ॥१३६॥

पृथ्वी, समुद्र, और पर्वत का अन्त पाया जा सकता है, परन्तु राजा के हृदय की बात का अन्त किसी प्रकार, किसी ने, कभी भी नहीं पाया है ॥१३६॥

तत् त्वमत्रैव तिष्ठ, यावदहं तं समये दृष्ट्वा ततः पश्चात् त्वामानयामि' इति। तथानुष्ठिते दमनकः पिङ्गलकसकाशं गत्वेदमाह—'स्वामिन्! न तत् प्राकृतं सत्त्वम्। स हि भगवतो महेश्वरस्य वाहनभूतो वृषभः' इति। मया पृष्ट इदमूचे—

अतः तुम यहीं ठहरो जब तक मैं (अनुकूल) समय को देखकर पश्चात् तुम्हें ले चलूँ। वैसा करने पर दमनक ने पिङ्गलक के निकट जाकर यह कहा—

स्वामिन्! वह मामूली जानवर नहीं है। वह तो भगवान् महेश्वर (शिव) जी का वाहन स्वरूप वृषभ है। मेरे पूछने पर उसने कहा—

'महेश्वरेण परितुष्टेन कालिन्दीपरिसरे शष्पाग्राणि भक्षयितुं समादिष्टः। किं बहुना ? मह्यं प्रदत्तं भगवता क्रीडार्थं वनमिदम्।'

महादेवजी ने संन्तुष्ट होकर यमुना के तटवर्ती प्रान्त में बालतृण (नवीन घास) भक्षण करने के लिये मुझे आज्ञा दी है। अधिक कहने से क्या प्रयोजन ? भगवान् शङ्कर ने क्रीड़ा करने के लिए मुझे यह वन दिया है।

पिङ्गलक आह सभयम्—'सत्यं ज्ञातं मयाऽधुना। न देवताप्रसादं विना शष्पभोजिनो व्यालाकीर्णे एवंविधे वने निःशङ्कं नदन्तो भ्रमन्ति। ततस्त्वया किमभिहितम् ?'

पिङ्गलक ने डरते हुए कहा—ठीक २ अब मैंने जान लिया कि देवता की कृपा के बिना, सर्पों से भरे हुए इस प्रकार के घोर वन में घास का भोजन करनेवाला जीव शङ्कारहित हो, शब्द करते हुए, कैसे घूम सकता है ? तो फिर (उससे) क्या कहा ?

दमनक आह—'स्वामिन्, एतदभिहितं मया यदेतद्वनं चण्डिकावाहनभूतस्य मत्स्वामिनः पिङ्गलकनाम्नः सिंहस्य विषयीभूतम्। तद्भवानभ्यागतः प्रियोऽतिथिः। तत्तस्य सकाशं गत्वा भ्रातृस्नेहेनैकत्र भक्षणपानविहरणक्रियाभिरेकस्थानाश्रयेण कालो नेयः' इति।

दमनक ने कहा—स्वामिन्! मैंने यह कहा कि यह वन भगवती चण्डिका के वाहन स्वरूप मेरे स्वामी पिङ्गलक नाम सिंह के अधिकार में है। इसलिये आप हमारे अभ्यागत प्रिय अतिथि हुए। सो उनके पास चलकर बन्धु प्रेम में बँधकर एकत्र खाना, पीना, घूमना आदि क्रिया द्वारा एकही स्थान का आश्रय लेकर वहीं समय बिताइये।

ततस्तेनापि सर्वमेतत् प्रतिपन्नम्। उक्तं च सहर्षम्—'स्वामिनः सकाशादभयदक्षिणा दापयितव्या' इति। तदत्र स्वामी प्रमाणम्।

तब उसने मेरी सब बातें स्वीकार कर हर्षित होकर कहा—'स्वामी के समीप से मुझे अभय-दक्षिणा दिलवाइये।' सो इसमें स्वामी ही प्रमाण स्वरूप हैं।

तच्छ्रुत्वा पिङ्गलक आह—'साधु सुमते ! साधु ! मन्त्रिश्रोत्रिय ! साधु । मम हृदयेन सह सम्मन्त्र्य भवतेदमभिहितम् । तद्दत्ता मया तस्याऽभयदक्षिणा । परं सोऽपि मदर्थेऽभयदक्षिणां याचयित्वा द्रुततरमानीयताम्' इति । अथ साधु चेदमुच्यते—

उसे सुनकर पिङ्गलक ने कहा—शाबाश बुद्धिमान् ! शाबाश मन्त्रिश्रेष्ठ ! मानों मेरे हृदय से सम्मति लेकर तुमने ऐसा कहा । इसलिये मैंने उसे अभय-दक्षिणा प्रदान किया । परन्तु उससे भी मेरे लिये अभयदक्षिणा की याचना कर, उसे शीघ्रातिशीघ्र ले आओ । यह ठीक ही कहा है—

अन्तःसारैरकुटिलैरच्छिद्रैः सुपरीक्षितैः ।
मन्त्रिभिर्धार्यते राज्यं सुस्तम्भैरिव मन्दिरम् ॥१३७॥

जिस प्रकार अच्छे, पुष्ट, सीधे खम्भों के सहारे मन्दिर टिका रहता है उसी प्रकार सारवान (बलवान्), कुटिलतारहित (निष्कपट), दूषणरहित (निर्दोष), अच्छी तरह से परीक्षा किये हुये मन्त्रियों द्वारा राज्य धारण किया जाता है ॥१३७॥

तथा च ।

और भी—

मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने भिषजां सान्निपातिके ।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा स्वस्थे को वा न पण्डितः ? ॥१३८॥

भेद और सन्धि के समय में मन्त्रियों की और सन्निपात ज्वर में वैद्यों की प्रज्ञा (बुद्धि) देखी जाती है; अन्यथा स्वस्थ रहने पर कौन नहीं पण्डित होता ? ॥१३८॥

दमनकोऽपि तं प्रणम्य सञ्जीवकसकाशं प्रस्थितः सहर्षमचिन्तयत्—'अहो ! प्रसादसम्मुखो नः स्वामी वचनवशगश्च संवृत्तः । तन्नास्ति धन्यतरो मम ।

दमनक भी उसे प्रणाम कर सञ्जीवक के समीप चल दिया और आनन्दित हो सोचने लगा—'अहो ! हमारे ऊपर स्वामी प्रसन्न हैं और हमारी बातों में हैं इसलिए मुझसे बढ़कर सौभाग्यशाली और कौन है ?'

उक्तं च—

कहा भी है—

अमृतं शिशिरे वह्निरमृतं प्रियदर्शनम् ।
अमृतं राजसम्मानममृतं क्षीरभोजनम् ॥१३९॥

शिशिर ऋतु (जाड़े) में आग अमृत (सुधावत् सुखप्रद) है, प्रिय का दर्शन अमृत है, राज-सम्मान अमृत और दुग्ध-भोजन अमृत है ॥१३९॥

अथ सञ्जीवकसकाशमासाद्य सप्रश्रयमुवाच—'भो मित्र ! प्रार्थितोऽसौ मया भवदर्थे स्वाम्यभयप्रदानम् । तद्विश्रब्धं गम्यतामिति ।

सञ्जीवक के समीप पहुँचकर सस्नेह उसने कहा—हे मित्र ! मैंने आपके लिए स्वामी से अभयप्रदान के लिए प्रार्थना की । अतः विश्वासपूर्वक चलिए ।

परं त्वया राजप्रसादमासाद्य मया सह समयधर्मेण वर्तितव्यम् । न गर्वमासाद्य स्वप्रभुतया विचरणीयम् । अहमपि तव सङ्केतेन सर्वां राज्यधुरममात्यपदवीमाश्रित्योद्धरिष्यामि । एवं कृते द्वयोरप्यावयो राज्यलक्ष्मीर्भोग्या भविष्यति । यतः—

परन्तु तुम्हें, राजा की कृपा प्राप्तकर, मेरे साथ सामयिक धर्म के अनुरूप, बर्ताव करना चाहिए । गर्वित होकर अपनी प्रभुता से (मनमाना) विचरण न करना । मैं भी तुम्हारे संकेत (सलाह) से सम्पूर्ण राज्य की धुरी स्वरूप मन्त्रित्व के पद को प्राप्त कर, धारण करूँगा । ऐसा करने से हम दोनों से राज्यलक्ष्मी भोग्य होगी । क्योंकि—

आखेटकस्य धर्मेण विभवाः स्युर्वशे नृणाम् ।
नृप्रजाः प्रेरयत्येको हन्त्यन्योऽत्र मृगानिव ॥ १४० ॥

मृगया (शिकार) के सदृश आचरण करने से मनुष्यों के वश में ऐश्वर्य हो जाते हैं । एक तो नर-रूपी प्रजा की प्रेरणा करता है और दूसरा इस लोक में मृगों के सदृश उसे तकलीफ देकर, अपना कार्य सिद्धि करता है ॥ १४० ॥

तथा च ।

और भी—

योन पूजयते गर्वादुत्तमाधममध्यमान् ।
भूपसम्मानमान्योऽपि भ्रश्यते दन्तिलो यथा' ॥ १४१ ॥

जो अभिमान के कारण उत्तम, अधम, और मध्यम व्यक्ति को पूजा (आदर-सत्कार) नहीं करता, वह राजा द्वारा सम्मानित होने पर भी, दन्तिल के समान भ्रष्ट हो जाता है ॥ १४१ ॥

सञ्जीवक आह—'कथमेतत् ?'

सञ्जीवक ने कहा—यह कैसी कथा है ?

सोऽब्रवीत्—

उसने कहा—

(कथा ३)

अस्त्यत्र धरातले वर्द्धमानं नाम नगरम् । तत्र दन्तिलो नाम नाना-भाण्डपतिः सकलपुरनायकः प्रतिवसति स्म । तेन पुरकार्यं नृपकार्यं च कुर्वता तुष्टिं नीतास्तत्पुरवासिनो लोका नृपतिश्च । किं बहुना ? न कोऽपि तादृक् केनापि चतुरो दृष्टो नापि श्रुतो वेति ।

इस पृथ्वीतल पर वर्द्धमान (वर्द्धमान) नाम का एक नगर है । वहाँ दन्तिल नाम का पूँजीपति (भण्डार और खजाने का अध्यक्ष) समस्त नगर भर का मुखिया रहता था । उसने नगर-कार्य और राजकार्य करते हुए उस नगर के निवासियों (अर्थात् नागरिकों) और राजा को सन्तुष्ट कर दिया । उसके समान चतुर कर्मचारी किसी ने न कहीं देखा और न सुना ।

अथवा साधु चेदमुच्यते—

अथवा यह सत्य कहा जाता है—

नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके
जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः ।
इति महति विरोधे वर्तमाने समाने
नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता ॥ १४२ ॥

राजा की भलाई करनेवाले को जनता अपना द्वेषी समझती है और (जनता) का कल्याण करनेवाले को राजा पदच्युत कर देते हैं । इस प्रकार

महान् विरोध (वैपरीत्य) के वर्तमान (खड़ा) होने पर राजा और प्रजा (दोनों) के समान रूप से कार्य करनेवाले बड़े दुर्लभ होते हैं ॥ १४२ ॥

अथैवं गच्छति काले दन्तिलस्य कदाचिद्विवाहः सम्प्रवृत्तः । तत्र तेन सर्वे पुरनिवासिनो राजासन्निधिलोकाश्च सम्मानपुरःसरमामन्त्र्य भोजिता वस्त्रादिभिः सत्कृताश्च ।

इस प्रकार कुछ समय बीतने पर दन्तिल का एक समय विवाह होना निश्चित हुआ । तब उसने सब नागरिकों और राजा के समीप रहनेवाले (मन्त्री, मुखिया, सामन्त) लोगों को स-सम्मान निमन्त्रित कर, भोजन और वस्त्रों से उन लोगों का सत्कार किया ।

ततो विवाहानन्तरं राजा सान्तःपुरः स्वगृहमानीयाऽभ्यर्चितः । अथ तस्य नृपतेर्गृहसम्मार्जनकर्ता गोरम्भो नाम राजसेवको गृहायातोऽपि तेनानुचितस्थाने उपविष्टोऽवज्ञयाऽर्द्धचन्द्रं दत्त्वा निःसारितः ।

विवाह के बाद उसने अन्तःपुरवासियों के साथ राजा को अपने घर बुलाकर अभ्यर्चना की । उस राजा के भवन में झाड़ू देने वाले गोरम्भ नाम के एक राज-सेवक को अपने घर आने पर भी, अनुचित स्थल (ऊँचे आसन) पर बैठने के कारण, गरदनिया देकर बाहर निकाल दिया ।

सोऽपि ततःप्रभृति निःश्वसन्नपमानान्न रात्रावप्यधिशेते । कथं मया तस्य भाण्डपतेः राजप्रसादहानिः कर्तव्या ?' इति चिन्तयन्नास्ते ।

वह भी उसी दिन से अपमान के कारण आहें भरता हुआ रात्रि में सोता भी न था । 'मैं इस पूँजीपति (राजभण्डारी) की किस प्रकार राजा को अप्रसन्न कराके कैसे हानि कराऊँ ?' यही सोचा करता था ।

'अथवा किमनेन वृथा शरीरशोषणेन । न किञ्चिन्मया तस्यापकर्तुं शक्यमिति । अथवा साध्विदमुच्यते—

'अथवा इस शरीर के निष्प्रयोजन (बेमतलब) सुखाने से क्या लाभ ? यदि मैं उसका किञ्चित् अपकार न कर सका ।' या यह ठीक कहा है—

योह्यपकर्तुमशक्तः कुप्यति किमसौ नरोऽत्र निर्लज्जः ।
उत्पतितोऽपि हि चणकः शक्तः किं भ्राष्ट्रकं भङ्क्तुम्' ॥१४३॥

जो किसी का अपकार करने में असमर्थ है वह निर्लज्ज मनुष्य क्यों निरर्थक कोप करता है ? क्या अकेला चना उछल कर भी भूजने के बर्तन को फोड़ सकता है ?॥ १४३ ॥

अथ कदाचित् प्रत्यूषे योगनिद्रां गतस्य राज्ञः शय्यान्ते मार्जनं कुर्वन्निदमाह—'अहो ! दन्तिलस्य महद्दृप्तत्वं यद्राजमहिषीमालिङ्गति।'

किसी समय उषा काल में जब राजा कुछ-कुछ सो रहे थे उस समय शय्या के समीप झाड़ू देता हुआ (गोरम्भ ने) कहा—'अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि दन्तिल को इतना अभिमान हो गया है कि वह पटरानी को आलिङ्गन करता है।'

तच्छ्रुत्वा राजा स-सम्भ्रममुत्थाय तमुवाच—'भो भो गोरम्भ! सत्यमेतत्, यत् त्वया जल्पितम्। किं देवी दन्तिलेन समालिङ्गिता !'इति।

उसे सुनकर राजा हड़बड़ी में उठकर बोले— अरे ! गोरम्भ ! क्या वह सत्य है ? जो तू कह रहा है। क्या महारानी को दन्तिल ने आलिङ्गन किया है ?'

गोरम्भः प्राह—'देव ! रात्रिजागरणेन द्यूतासक्तस्य मे बलान्निद्रा समायाता। तन्न वेद्मि किं मयाऽभिहितम् ?'

गोरम्भ ने कहा—'महाराज ! रात्रि भर जुए में आसक्त रहने के कारण जागरण करने से मुझे बड़ी जोर की नींद आ रही थी इसलिये मुझे पता नहीं कि मैंने क्या कहा है ?'

राजा सेर्ष्यं स्वगतम् (अचिन्तयत्)—'एष तावदस्मद्गृहेऽप्रतिहत गतिः। तथा दन्तिलोऽपि। तत्कदाचिदनेन देवी समालिङ्ग्यमाना दृष्टा भविष्यति। तेनेदमभिहितम्।

राजा ने ईर्ष्या-पूर्वक मन में विचार किया यह तो हमारे महल में बिना रुकावट के आने जाने वाला है और उसी प्रकार दन्तिल भी है। सो इसने कदाचित् देवी को आलिङ्गन की जाती हुई देखा होगा तब तो ऐसा कहता है।

उक्तं च—

कहा है—

> यद्वाञ्छति दिवा मर्त्यो वीक्षते वा करोति वा।
> तत्स्वप्नेऽपि तदभ्यासाद्ब्रूते वाऽथ करोति वा ॥१४४॥

मनुष्य जो दिन में सङ्कल्प करता है, अथवा देखता है, अथवा करता है वह स्वप्न में भी उसके अभ्यास के कारण वही बोलता है अथवा करता है ॥१४४॥

तथा च—

और भी—

शुभं वा यदि वा पापं यन्नृणां हृदि संस्थितम् ।
सुगूढमपि तज्ज्ञेयं स्वप्नवाक्यात् तथा मदात् ॥१४५॥

अच्छा या बुरा जो मनुष्यों के हृदय में रहता है वह अत्यन्त गूढ़ (रहस्य) बात भी हो तो भी स्वप्न-वाक्य या मद (नशा) से मालूम हो जाती है ॥१४५॥

अथवा स्त्रीणां विषये कोऽत्र सन्देहः ?

अथवा स्त्रियों के विषय में सन्देह ही क्या करना ?

जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ।
हृद्गतं चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम् ॥१४६॥

एक के साथ वार्तालाप करती हैं, दूसरे की ओर विलास पूर्वक देखती हैं। हृदय में किसी अन्य पुरुष के लिए सोच करती हैं। कहो तो सही, स्त्रियों के लिए कौन प्यारा है ? ॥ १४६ ॥

अन्यच्च—

और भी—

एकेन स्मितपाटलाधररुचो जल्पन्त्यनल्पाक्षरं
वीक्षन्तेऽन्यमितः स्फुटत्कुमुदिनीफुल्लोल्लसल्लोचनाः ।
दूरोदारचरित्रचित्रविभवं ध्यायन्ति चाऽन्यं धिया
केनेत्थं परमार्थतोऽर्थवदिव प्रेमाऽस्ति वामभ्रुवाम् ?॥१४७॥

एक के साथ मन्द २ मुस्कराते हुए लाल अधर की कान्ति वाली वनिता बहुत २ बात करती हैं, दूसरे की ओर प्रस्फुटित (खिली हुई) कुमुदिनी की भाँति उल्लासयुक्त नेत्रों से देखती हैं, और विचित्र चरित्रवाले ऐश्वर्य से परिपूर्ण किसी तीसरे पुरुष का अपने चित्त में ध्यान करती हैं। बताइये तो सही, कि टेढ़ी भौंवाली स्त्रियों का सानुराग वास्तविक प्रेम किसके साथ हुआ ॥ १४७ ॥

तथा च—

वैसे ही—

नाऽग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नाऽन्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ १४८ ॥

अग्नि बहुत काष्ठ (के भस्म करने) से, समुद्र बहुत नदियों (के समागम) से, यम सब प्राणियों (को नाश करने) से, और कामिनी स्त्री (बहुत) पुरुषों (के संसर्ग) से भी तृप्त नहीं होती ॥ १४८ ॥

*रहो नास्ति क्षणो नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः ।
तेन नारद ! नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥१४९॥

'एकान्त नहीं है, समय नहीं है, इच्छित मनुष्य (चाहने वाला यार) नहीं है'—इसी से हे नारद ! स्त्रियों का पातिव्रत्य रह सकता है ॥१४९॥

यो मोहान्मन्यते मूढो रक्तेयं मम कामिनी ।
स तस्या वशगो नित्यं भवेत् क्रीडाशकुन्तवत् ॥१५०॥

जो मूर्ख मोह (अज्ञान) के कारण यह मानता है कि 'यह कामिनी मुझ पर अनुरक्त है' वह मनुष्य नित्य उस (स्त्री) के वश होकर क्रीडा के पक्षी के समान (खिलौना) हो जाता है ॥ १५० ॥

तासां वाक्यानि कृत्यानि स्वल्पानि सुगुरूण्यपि ।
करोति यः कृतैर्लोके लघुत्वं याति सर्वतः ॥१५१॥

उस (स्त्री) के वाक्यों एवं कृत्यों को—चाहे अत्यन्त अल्प हों अथवा अधिक हों—जो पुरुष करता है, वह सब प्रकार से लोक में लघुता (हल्कापन) को प्राप्त होता है ॥१५१॥

स्त्रियं च यः प्रार्थयते सन्निकर्षं च गच्छति ।
ईषच्च कुरुते सेवां तमेवेच्छन्ति योषितः ॥१५२॥

जो स्त्री की प्रार्थना करता है, उसके निकट जाता है, और अल्प सेवा भी करता है तो स्त्री उसी को चाहने लगती है ॥१५२॥

अनर्थित्वान्मनुष्याणां भयात् परिजनस्य च ।
मर्यादायाममर्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति सर्वदा ॥१५३॥

---

* नारदं प्रति श्रीकृष्णस्योक्तिरियम् ।

मनुष्यों के न चाहने के कारण और परिजनों (परिवारवर्ग) के भय से मर्यादा रहित (कुमार्ग में जाने वाली) स्त्रियाँ भी सदा मर्यादा में रहती हैं॥१५३॥

नासां कश्चिदगम्योऽस्ति नासां च वयसि स्थितिः ।
विरूपं रूपवन्तं वा पुमानित्येव भुज्यते ॥१५४॥

इनके लिए कोई अगम्य नहीं है, न (वृद्ध, युवा) अवस्था का ही विचार इनको रहता है, कुरूप अथवा रूपशील से भी प्रयोजन नहीं, ये तो केवल पुरुष-मात्र के साथ भोग करना चाहती हैं ॥१५४॥

रक्तो हि जायते भोग्यो नारीणां शाटको यथा ।
घृष्यते यो दशालम्बी नितम्बे विनिवेशितः ॥१५५॥

अनुरक्त मनुष्य साड़ी की भांति स्त्रियों को भोग्य होता है जो दशा [(१) कामावस्था (२) वस्त्र का प्रान्त भाग किनारा] को प्राप्त होकर लटकता (बढ़ा) हुआ, नितम्ब में आवेष्टित होकर, घर्षण को प्राप्त होता है ॥१५५॥

अलक्तको यथा रक्तो निष्पीड्य पुरुषस्तथा ।
अबलाभिर्बलाद्रक्तः पादमूले निपात्यते' ॥१५६॥

जिस प्रकार स्त्रियाँ लाल के रंग (महावर) को जोर से दबाकर (निचोड़ कर) अपने चरणों में लगाती हैं, उसी तरह वे अपने अनुरागी (चाहनेवाले) को निष्पीडित (आलिङ्गन) कर, अपने चरणों पर गिराती हैं ॥१५६॥

एवं स राजा बहुविधं विलप्य तत्प्रभृति दन्तिलस्य प्रसादपराङ्मुखः सञ्जातः । किं बहुना ? राजद्वारप्रवेशोऽपि तस्य निवारितः । दन्तिलोऽप्य-कस्मादेव प्रसादपराङ्मुखमवनिपतिमवलोक्य चिन्तयामास—

इस प्रकार वह राजा बहुत तरह से विलाप कर उसी दिन से दन्तिल के प्रति अनुराग-रहित हुआ। अधिक की कौन कहे ? राजद्वार में उसके प्रवेश के लिए भी मनाही हो गयी। दन्तिल भी एकाएक राजा को प्रेम-रहित देखकर, विचार करने लगा।

'अहो, साधु चेदमुच्यते—

अहो ! किसी ने ठीक कहा है—

कोऽर्थान् प्राप्य न गर्वितो, विषयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः ?
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः, को नाम राज्ञां प्रियः ?
कः कालस्य न गोचरान्तरगतः, कोऽर्थी गतो गौरवं ? †
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान् ? ॥१५७॥

धन पाकर कौन घमण्डी नहीं हुआ ? विषय में रत किस पुरुष की आपत्ति का निराकरण हुआ है ? स्त्रियों से पृथ्वीतल पर किसका मन नहीं खण्डित हुआ है ? राजाओं का प्रिय कौन हुआ है ? कौन काल के गोचर नहीं हुआ ? किस याचना करने वाले को गौरव मिला है ? दुर्जनों के कपट रूप जाल में फँसे हुए किस पुरुष का कल्याण हुआ है ? ॥१५७॥

तथा च—

और भी—

काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं
सर्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः ।
क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता
राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा ? ॥१५८॥

कौए में पवित्रता, जुआ खेलनेवाले में सत्यता, सर्प में सहनशीलता, स्त्रियों में काम-शान्ति, नपुंसक में धैर्य, शराबी में तत्त्व-विचार और राजा को मित्र होते किसने देखा अथवा सुना है ? ॥१५८॥

अपरं मयाऽस्य भूपतेरथवाऽन्यस्यापि कस्यचिद्राजसम्बन्धिनः स्वप्नेऽपि नाऽनिष्टं कृतम् । तत् किमेतत्पराङ्मुखो मां प्रति भूपतिः ! एवं तं दन्तिलं कदाचिद्राजद्वारे ‡ विष्कम्भितं विलोक्य सम्माजनकर्ता गोरम्भो विहस्य द्वारपालानिदमूचे—

'और मैंने इस राजा की, अथवा अन्य किसी राजा के सम्बन्धी की स्वप्न में भी बुराई नहीं की । फिर क्या कारण है, कि मुझसे राजा ने मुँह मोड़ लिया है ?

† 'रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ।'—मेघदूतम् ।
‡ 'विष्कम्भो योगभेदे स्यात् विस्तार-प्रतिबन्धयोः'—इति मेदिनी ।

इस तरह उस दन्तिल को किसी समय राजद्वार पर, द्वारपाल से रोका हुआ अवलोकन कर, झाड़ू देनेवाले गोरम्भ ने हँस कर द्वारपाल से यह कहा—

'भो भो द्वारपालाः ! राजप्रसादाधिष्ठितोऽयं दन्तिलः स्वयं निग्रहानुग्रहकर्ता च। तदनेन निवारितेन यथाऽहं तथा यूयमप्यर्धचन्द्रभाजिनो भविष्यथ।'

'ऐ दरवान ! राजमहल में आया हुआ यह दन्तिल स्वयं निग्रह (दण्ड) और अनुग्रह का करनेवाला है। सो इसके रोकने के कारण जिस प्रकार मैं हुआ था उसी प्रकार तुम भी गरदनिया दिये जाओगे।'

तच्छ्रुत्वा दन्तिलश्चिन्तयामास—'नूनमिदमस्य गोरम्भस्य चेष्टितम्।

उसको सुनकर दन्तिल सोचने लगा—'निस्सन्देह यह गोरम्भ की कार्रवाई है।

अथवा साध्विदमुच्यते।

अथवा उचित ही कहा गया है—

अकुलीनोऽपि मूर्खोऽपि भूपालं योऽत्र सेवते।
अपि सम्मानहीनोऽपि स सर्वत्र प्रपूज्यते ॥१५९॥

सद्वंशरहित अथवा मूर्ख—जो कोई भी राजा की सेवा करता है, वह सम्मान-रहित होते हुए भी सर्वत्र पूजा जाता है ॥१५९॥

अपि कापुरुषो भीरुः स्याच्चेन्नृपतिसेवकः।
तथापि न पराभूतिं जनादाप्नोति मानवः ॥१६०॥

नीच आदमी या भयशील भी यदि राजा का सेवक हो तो भी वह किसी मनुष्य से पराभव प्राप्त नहीं करता ॥१६०॥

एवं स बहुविधं विलप्य विलक्षमनाः सोद्वेगो गतप्रभावः स्वगृहं गत्वा निशामुखे गोरम्भमाहूय वस्त्रयुगलेन सम्मान्येदमुवाच—

इस प्रकार वह, बहुत तरह से विचार कर, लज्जित मन और चित्त के व्याकुल होने से निस्तेज हुआ, अपने घर जाकर, रजनीमुख (सायङ्काल) में गोरम्भ को बुलाकर, एक जोड़ा कपड़ा से उसे सम्मानित कर, यह बोला—

'भद्र ! मया न तदा त्वं रागवशान्निःसारितः । यतस्त्वं ब्राह्मणानामग्रतोऽनुचितस्थाने समुपविष्टो दृष्ट इत्यपमानितः । तत् क्षम्यताम् ।'

'हे भद्र ! मैंने उस समय तुम्हें क्रोध के वशीभूत होकर नहीं निकाला था; किन्तु जो तुम ब्राह्मणों के आगे अनुचित स्थान पर बैठे हुए देखे गए इससे तुम्हारी अवमानना हुई । अतः उसे क्षमा करो ।'

सोऽपि स्वर्गराज्योपमं तद्वस्त्रयुगलमासाद्य परं परितोषं गत्वा तमुवाच—'भोः श्रेष्ठिन् ! क्षान्तं मया ते तत् । तदस्य सम्मानस्य कृते पश्य मे बुद्धिप्रभावं राजप्रसादं च ।' एवमुक्त्वा सपरितोषं निष्क्रान्तः ।

उसने स्वर्गराज्य के तुल्य दोनों कपड़ों को पाकर, अत्यन्त सन्तुष्ट होकर, उससे कहा—'ऐ सेठ जी ! मैंने उसको क्षमा कर दिया । अब इस सम्मान के करने पर मेरी बुद्धि की शक्ति एवं राजकृपा को देखो' ऐसा कहकर सन्तोष के साथ चल दिया ।

साधु चेदमुच्यते—

यह ठीक कहा गया है—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनाऽऽयात्यधोगतिम् ।
अहो ! सुसदृशी चेष्टा तुलायष्टेः खलस्य च ॥१६१॥

जिस प्रकार तराजू की डण्डी (तुला-यष्टि) थोड़े में ऊपर चली जाती है और थोड़े ही में नीचे चली आती है उसी प्रकार दुष्ट की चेष्टा भी है । जो थोड़े ही में ऊपर हो जाता है और थोड़े ही में नीचे चला आता है (अर्थात् जिसके कुपित होने व प्रसन्न होने में अधिक बिलम्ब नहीं लगता) ॥१६१॥

ततश्चान्येद्युः स गोरम्भो राजकुले गत्वा योगनिद्रां गतस्य भूपतेः सम्मार्जनक्रियां कुर्वन्निदमाह—'अहो ! अविवेकोऽस्मद्भूपतेः, यत्पुरीषोत्सर्गमाचरंश्चिर्भटीभक्षणं करोति ।'

तब दूसरे दिन उस गोरम्भ ने, राजकुल में जाकर, कुछ-कुछ निद्रावस्था को प्राप्त हुए राजा के यहाँ बुहारी करता हुआ, यह कहा—'अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि हमारा राजा कैसा बुद्धिरहित है कि मलत्याग करते समय ककड़ी खाता है ।'

तच्छ्रुत्वा राजा सविस्मयं तमुवाच—'रे रे गोरम्भ! किमप्रस्तुतं लपसि? गृहकर्मकरं मत्वा त्वां न व्यापादयामि। किं त्वया कदाचिद्-हमेवंविधं कर्म समाचरन् दृष्टः?'

उसको सुनकर आश्चर्यान्वित होकर राजा ने उससे कहा—'अरे गोरम्भ! क्यों अप्रासङ्गिक (असङ्गत) बात करता है? घर का काम करने वाला जान कर तुझे नहीं मारता हूँ। क्या तूने किसी समय मुझे इस प्रकार के कर्म करते हुए देखा है?

सोऽब्रवीत्—'देव! द्यूतासक्तस्य रात्रिजागरणेन सम्मार्जनं कुर्वाणस्य मम बलान्निद्रा समायाता। तथाऽधिष्ठितेन मया किञ्चिज्जल्पितम्, तन्न वेद्मि। तत्प्रसादं करोतु स्वामी निद्रापरवशस्य' इति।

उसने कहा—'महाराज! जुए में आसक्त रहने के कारण, रात्रि भर जागते रहने से, झाड़ू देते-देते मुझे ज़ोर की निद्रा आगयी अतः उस प्रकार की दशा होने से क्या शब्द मेरे मुँह से निकल गया, इसका मुझे पता नहीं है, सो मुझ,—निद्रा के वशीभूत,—पर स्वामी कृपा करें।'

एवं श्रुत्वा राजा चिन्तितवान्—'यन्मया जन्मान्तरे पुरीषोत्सर्गं कुर्वता कदापि चिर्भटिका न भक्षिता, तद्यथाऽयं व्यतिकरोऽसम्भाव्यो ममाऽनेन मूढेन व्याहृतः, तथा दन्तिलस्याऽपीति निश्चयः।

इस प्रकार सुनकर राजा ने सोचा कि 'मैंने जन्मान्तर में भी मल त्याग करते हुए कदापि ककड़ी नहीं खाई। अतः जिस प्रकार मेरे विषय में इस मूढ़ की कही हुई यह बात असम्भव है, उसी प्रकार दन्तिल के विषय की भी होगी—ऐसी मेरी धारणा है।

तन्मया न युक्तं कृतं यत् स वराकः सम्मानेन वियोजितः। न तादृक् पुरुषाणामेवंविधं चेष्टितं सम्भाव्यते। तदभावेन राजकृत्यानि पौरकृत्यानि च सर्वाणि शिथिलतां व्रजन्ति।'

सो मैंने अच्छा नहीं किया, कि वृथा ही उस बेचारे को सम्मानरहित कर दिया। उस प्रकार के मनुष्यों में इस प्रकार की बुरी चेष्टा असम्भाव्य है। उसके अभाव में (न होने के कारण) राजकार्य और नगर-कार्य सभी ढीले पड़े हैं।'

एवमनेकधा विमृश्य दन्तिलं समाहूय निजाङ्गवस्त्राभरणादिभिः संयोज्य स्वाधिकारे नियोजयामास।

इस तरह अनेक प्रकार से विचार कर, दन्तिल को बुलवाकर, अपने शरीर के वस्त्राभूषण से अलंकृत कर, उसे फिर उसके अधिकार पद पर नियुक्त कर दिया।

अतोऽहं ब्रवीमि—'यो न पूजयते गर्वात्' इति।

इसी से मैं कहता हूँ कि 'जो गर्व के कारण पूजा नहीं करता है' इत्यादि।

सञ्जीवक आह—'भद्र! एवमेवैतत्। यद्भवताऽभिहितं तदेव मया कर्तव्यम्' इति। एवमभिहिते दमनकस्तमादाय पिङ्गलकसकाशमगमत्।

सञ्जीवक ने कहा—'भद्र! यह ऐसा ही है। आपने जैसा कहा है उसी प्रकार मैं करूँगा।' ऐसा कहने पर दमनक, उसको लेकर, पिङ्गलक के पास गया।

आह च—'देव! एष मयानीतः स सञ्जीवकः। अधुना देवः प्रमाणम्।' सञ्जीवकोऽपि तं सादरं प्रणम्याऽग्रतः सविनयं स्थितः। पिङ्गलकोऽपि तस्य पीनायतककुद्मतो नखकुलिशालङ्कृतं दक्षिणपाणिमुपरि दत्त्वा मानपुरःसरमुवाच।

उसने कहा—'महाराज! इस सञ्जीवक को मैं लाया हूँ। अब महाराज ही इसके प्रमाण हैं। सञ्जीवक भी, उसे आदर पूर्वक प्रणाम कर सानुनय उसके आगे बैठ गया। पिङ्गलक भी उसके पुष्ट और दीर्घ पीठ पर अपने वज्र सदृश नख से सुशोभित दहिने हाथ को रख कर सम्मान पूर्वक बोला—

'अपि शिवं भवतः? कुतस्त्वमस्मिन् वने विजने समायातोऽसि।' तेनाप्यात्मवृत्तान्तः कथितः। यथा वर्द्धमानेन सह वियोगः सञ्जातस्तथा सर्वं निवेदितम्। तच्छ्रुत्वा पिङ्गलकः सादरतरं तमुवाच—

'कहिए आप कुशलपूर्वक तो हैं? आप का इस निर्जन वन में किस प्रकार आना हुआ?' उसने भी अपना वृत्तान्त कहा; और जिस प्रकार वर्द्धमान के साथ वियोग हुआ वे सब बातें भी बतलायीं। उसे सुनकर पिङ्गलक ने, अत्यन्त आदर के साथ, उससे कहा—

'वयस्य! न भेतव्यम्। मद्भुजपञ्जरपरिरक्षितेन यथेच्छं त्वयाऽधुना

वर्तितव्यम् । अन्यच्च नित्यं मत्समीपवर्तिना भाव्यम् । यतः कारणाद्बहपायं रौद्रसत्त्वनिषेवितं वनं गुरूणामपि सत्त्वानामसेव्यम्, कुतः शष्पभोजिनाम् ?'

'हे मित्र ! मत डरो; अब मेरे भुज-पिञ्जर द्वारा सुरक्षित रहकर स्वच्छन्द होकर तुम्हें घूमना चाहिए । और नित्य मेरे समीप रहा करना । क्योंकि बहुत आपत्ति से पूर्ण, भयावने जानवरों से सेवित इस जङ्गल में बड़े २ जीव नहीं रह सकते, फिर घास भक्षण करनेवालों के लिए क्या पूछना है ?'

एवमुक्त्वा सकलमृगपरिवृतो यमुनाकच्छमवतीर्योदकग्रहणं कृत्वा स्वेच्छया तदेव वनं प्रविष्टः । ततश्च करटकदमनकनिक्षिप्तराज्यभारः सञ्जीवकेन सह सुभाषितगोष्ठीमनुभवन्नास्ते ।

यह कहकर सम्पूर्ण मृगों के सहित यमुनातट पर जाकर, जलपान कर, स्वेच्छापूर्वक उसी वन में घुसा । तत्पश्चात् करटक और दमनक पर राज्यभार आरोपण कर, सञ्जीवक के साथ, सुभाषित गोष्ठी का सुख अनुभव करता हुआ, निवास करने लगा ।

अथवा साध्विदमुच्यते—

अथवा यह ठीक ही कहा है—

यदृच्छयाऽप्युपनतं सकृत्सज्जनसङ्गतम् ।
भवत्यजरमत्यन्तं नाऽभ्यासक्रममीक्षते ॥१६२॥

यदि दैवात् (अकस्मात्) एक बार भी सज्जनों की संगति हो जाय तो वह अजर होती है । वह बार बार अभ्यास के क्रम (पुनरावृत्ति) की अपेक्षा नहीं करती ॥१६२॥

सञ्जीवकेनाप्यनेकशास्त्रावगाहनादुत्पन्नबुद्धिप्रागल्भ्येन स्तोकैरेवाऽहोभिर्मूढमतिः पिङ्गलको धीमांस्तथा कृतो यथाऽरण्यधर्माद्वियोज्य ग्राम्यधर्मेषु नियोजितः ।

सञ्जीवक ने भी, विविध शास्त्रों के (निमज्जन) अध्ययन कारण उत्पन्न हुई बुद्धि की प्रगल्भता (अर्थात् प्रत्युत्पन्नमति, हाजिर जवाबी) के द्वारा थोड़े ही दिनों में, मूर्खबुद्धि पिङ्गलक को, ऐसा बुद्धिमान बना दिया; कि वन-धर्म (पशु-

स्वभाव हिंसा) से पृथक् करा, ग्राम्य-धर्म (ग्राम वासियों के सुलभाचार रूप धर्म) में लगा दिया।

किं बहुना, प्रत्यहं पिङ्गलकसञ्जीवकावेव केवलं रहसि मन्त्रयतः। शेषः सर्वोऽपि मृगजनो दूरीभूतस्तिष्ठति। करटक-दमनकावपि प्रवेशं न लभेते।

अधिक क्या कहें, प्रत्येक दिवस, पिङ्गलक और सञ्जीवक ही केवल, एकान्त में मन्त्रणा करते; और बाकी सब मृग समूह दूर रहते। करटक और दमनक को भी प्रवेश (अर्थात् आना-जाना) नहीं था।

अन्यच्च सिंहपराक्रमाभावात् सर्वोऽपि मृगजनस्तौ च शृगालौ क्षुधाव्याधिबाधिता एकां दिशमाश्रित्य स्थिताः।

इसके अतिरिक्त सिंह के विक्रमा-(बला-)-भाव के कारण, सब मृगसमूह और वे दोनों गीदड़, क्षुधा (भूख) रूपी व्याधि (शारीरिक दुःख) से पीड़ित हो, एक कोने में पड़े रहते थे।

उक्तं च—

कहा भी है—

फलहीनं नृपं भृत्याः कुलीनमपि चोन्नतम्।
संत्यज्याऽन्यत्र गच्छन्ति शुष्कं वृक्षमिवाण्डजाः ॥१६३॥

उच्चकुलोत्पन्न तथा श्रेष्ठ नृप को भी फलहीन समझकर उसके अनुचर लोग, छोड़कर इस प्रकार अन्य स्थान पर चले जाते हैं जिस प्रकार सूखे, अच्छे और उन्नत पेड़ को फलहीन समझ, उसे छोड़कर पक्षी चले जाते हैं ॥ १६३ ॥

अपि सम्मानसंयुक्ताः कुलीना भक्तितत्पराः।
वृत्तिभङ्गान्महीपालं त्यजन्त्येव हि सेवकाः ॥ १६४ ॥

ससम्मान, कुलीन, और भक्ति में निरत सेवक भी वृत्तिभङ्ग (वेतन न मिलने) के कारण महीपाल को छोड़ देते हैं ॥ १६४ ॥

अन्यच्च—

और भी—

कालातिक्रमणं वृत्तेर्यो न कुर्वीत भूपतिः।
कदाचित् तं न मुञ्चन्ति भर्त्सिता अपि सेवकाः ॥१६५॥

जो राजा वृत्ति देने में समय का अतिक्रमण नहीं करता (अर्थात् वेतनादि ठीक समय पर दे देता) है तो उसके भर्त्सना (झिड़कने-फटकारने) करने पर भी सेवक लोग उसे कभी भी नहीं छोड़ते ॥ १६५ ॥

तथा न केवलं सेवका इत्थम्भूता यावत् समस्तमप्येतज्जगत् परस्परं भक्षणार्थं सामादिभिरुपायैस्तिष्ठति। तद्यथा—

इस तरह केवल सेवक लोग ही नहीं होते, बल्कि यह समस्त संसार परस्पर भक्षण के लिए, साम (दान, दण्ड, भेद) आदि उपायों में लगा रहता है। वह इस प्रकार से—

देशानामुपरि क्ष्माभृदातुराणां चिकित्सकाः।
वणिजो ग्राहकाणां च मूर्खाणामपि पण्डिताः ॥ १६६ ॥

देशनिवासियों के ऊपर क्ष्माभृत् राजा—(क्ष्मां पृथिवीं बिभर्त्ति पालयति), आतुर (रोग युक्त अर्थात् रोगी) लोगों पर वैद्य, ग्राहकों पर वणिक्, मूर्खों पर पण्डित, ॥ १६६ ॥

प्रमादिनां तथा चौरा भिक्षुका गृहमेधिनाम्।
गणिकाः कामिनां चैव सर्वलोकस्य शिल्पिनः ॥ १६७ ॥

उसी तरह वेपरवाहों पर चोर, गृहस्थों पर भिक्षोपजीवी (संन्यासी), कामी पुरुषों पर वेश्या, सर्वसाधारण जनता पर शिल्पी (कारीगर), ॥१६७॥

सामादिसज्जितैः पाशैः प्रतीक्षन्ते दिवानिशम्।
उपजीवन्ति शक्त्या हि जलजा जलजानिव ॥१६८॥

साम (दान, दण्ड, भेद) आदि पाश (जाल) फैलाये दिन-रात उसी प्रकार प्रतीक्षा किया करते हैं जिस प्रकार जलचर (बड़ी मछली) जलजों (छोटी-छोटी मछलियों) की ताक में रहते हैं; क्योंकि ये सब उनकी बदौलत जीवन धारण करते हैं ॥१६८॥

अथवा साध्विदमुच्यते—

अथवा यह ठीक कहा जाता है कि—

सर्पाणां च खलानां च परद्रव्यापहारिणाम्।
अभिप्राया न सिद्ध्यन्ति तेनेदं वर्तते जगत् ॥१६९॥

सर्पों और पर-धन-हरण करनेवाले दुष्ट पुरुषों के अभिप्राय (मनोगत विचार) सिद्ध नहीं होते; इसी लिए यह जगत् वर्तमान (सुरक्षित रहता) है ॥१६९॥

भक्तं वाञ्छति शाम्भवो गणपतेराखुं क्षुधार्तः फणी
तं च क्रौञ्चरिपोः शिखी गिरिसुतासिंहोऽपि नागाशनम् ।
इत्थं यत्र परिग्रहस्य घटना शम्भोरपि स्याद्गृहे
तत्राऽन्यस्य कथं न ? भावि-जगतो यस्मात् स्वरूपं हि तत् ॥१७०॥

शम्भु का फणिधर (सर्प) भूख से पीड़ित होकर गणपति (गणेश जी) के चूहे को खाने की आकाङ्क्षा करता है; उस (सर्प) को क्रौञ्च (कुररी पक्षी) का शत्रु शिखी (कार्त्तिकेय का मयूर) खाना चाहता है और उस नाग-भक्षण करनेवाले मयूर को हिमालय की कन्या (पार्वती) का सिंह खाने की अभिलाषा करता है। इस तरह जब शिवजी के घर में ही परिजन की घटना (कलह-वृत्तान्त) है तब अन्य के यहाँ क्यों न होगी, क्योंकि वह (शिवजी का घर) भावी संसार का आदर्श स्वरूप है ॥१७०॥

ततः स्वामिप्रसादरहितौ क्षुत्क्षामकण्ठौ परस्परं करटकदमनकौ मन्त्रयेते। तत्र दमनको ब्रूते—'आर्य करटक! आवां तावदप्रधानतां गतौ। एष पिङ्गलकः सञ्जीवकानुरक्तः स्वव्यापारपराङ्मुखः। सर्वोऽपि परिजनो गतः। तत् किं क्रियते ?'

तदनन्तर स्वामी की कृपा से वञ्चित तथा भूख से सूखे कण्ठवाले करटक और दमनक परस्पर सलाह करने लगे। तब दमनक ने कहा—'आर्य करटक! हम दोनों तो अब अप्रधान हुए। इस पिङ्गलक ने, सञ्जीवक के प्रति अनुरक्त होकर, अपने (जीव-वध के) कार्य से मुँह मोड़ लिया। सब परिजन भी चले गए। अब क्या किया जाय ?'

करटक आह—'यद्यपि त्वदीयवचनं न करोति तथापि स्वामी स्वदोषनाशाय वाच्यः।

करटक ने कहा—'यद्यपि वह आपके कथनानुसार नहीं करता तथापि अपने (भृत्य के कर्तव्यपालन के) दोष से बचने के लिए स्वामी से कहना उचित ही है।

उक्तं च—

कहा है—

अशृण्वन्नपि बोद्धव्यो मन्त्रिभिः पृथिवीपतिः ।
यथा स्वदोषनाशाय विदुरेणाऽम्बिकासुतः ॥१७१॥

राजा यदि न सुने तो भी मन्त्री का कर्तव्य है कि राजा को बोध करावे। जिस प्रकार, अपने निर्दोष होने के लिए विदुर ने अम्बिका-सुत (धृतराष्ट्र) को समझाया (प्रबोध कराया) था ॥१७१॥

तथा च—

और भी—

मदोन्मत्तस्य भूपस्य कुञ्जरस्य च गच्छतः ।
उन्मार्गं वाच्यतां यान्ति महामात्राः समीपगाः ॥१७२॥

मदोन्मत्त राजा और हाथी—इन दोनों के उन्मार्ग (कुमार्ग) में जाने पर समीपवर्ती महामात्र † (प्रधानामात्य और महावत) ही वाच्यता को प्राप्त होते हैं (अर्थात् उनकी ही निन्दा होती है) ॥१७२॥

तत् त्वयैष शष्पभोजी स्वामिनः सकाशमानीतः। तत् स्वहस्तेनाङ्गाराः कर्षिताः ।' दमनक आह—'सत्यमेतत् । ममाऽयं दोषः, न स्वामिनः ।

जो तुम इस घास खानेवाले को स्वामी के समीप लाए सो अपने हाथ से तो तुमने अङ्गारा उठाया (अर्थात् अपने पैर में कुल्हाड़ी मारी) । दमनक ने कहा—'यह सत्य है; इसमें मेरा ही दोष है, न कि स्वामी का ।

उक्तं च—

कहा भी है—

जम्बुको हुडुयुद्धेन वयं चाऽऽषाढभूतिना ।
दूतिका परकार्येण त्रयो दोषाः स्वयंकृताः' ॥१७३॥

---

† मन्त्रे कर्मणि भूषायां वित्ते माने परिच्छदे ।
मात्रा च महती येषां महामात्रास्तु ते स्मृताः ॥

हुडु (मेढ़ों के) युद्ध से गीदड़, आषाढ़भूति से हम और दूसरे का कार्य करने से दूती—ये तीनों अपने दोष से दूषित हुए ॥१७३॥

करटक आह—'कथमेतत् ।' सोऽब्रवीत्—

करटक ने पूछा—'यह कथा कैसी है ?' उसने कहा—

(कथा ४)

अस्ति कस्मिंश्चिद्विविक्तप्रदेशे मठायतनम् । तत्र देवशर्मा नाम परिव्राजकः प्रतिवसति स्म । तस्याऽनेकसाधुजनदत्तसूक्ष्मवस्त्रविक्रयवशात् कालेन महती वित्तमात्रा सञ्जाता । ततः स न कस्यचिद्विश्वसिति । नक्तन्दिनं कक्षान्तरात् तां मात्रां न मुञ्चति ।

किसी निर्जन प्रदेश में एक मठाश्रय था । वहाँ देवशर्मा नामका एक संन्यासी रहता था । उसके पास, अनेक साधु पुरुषों द्वारा दिए हुए सूक्ष्म (बारीक, महीन) कपड़ों के बेचने से, कुछ समय के बाद, बहुत धन इकट्ठा हो गया । उस समय से वह किसी का विश्वास नहीं करता था । रात दिन काँख के भीतर से उस धन को अलग नहीं करता था ।

अथवा साधु चेदमुच्यते—

अथवा किसी ने ठीक कहा है—

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थाः कष्टसंश्रयाः ॥१७४॥

धन के उपार्जन करने में दुःख, उपार्जित धन की रक्षा करने में दुःख, आय (आमदनी) में दुःख और व्यय (खर्च करने) में दुःख, अतः ऐसे कष्टकारक धन को धिक्कार है ॥१७४॥

अथाऽऽषाढभूतिर्नाम परवित्तापहारी धूर्त्तस्तामर्थमात्रां तस्य कक्षान्तरगतां लक्षयित्वा व्यचिन्तयत्—'कथं मयाऽस्येयमर्थमात्रा हर्तव्या ?' इति ।

इसके अनन्तर आषाढ़भूति नामक, दूसरे के धन को अपहरण करने वाले धूर्त (वञ्चक) ने उस धन को उसकी काँख में देखकर विचार किया—'किस तरह मैं इसके इस धन को हरण करूँ ?'

तदत्र मठे तावद् दृढशिलासञ्चयवशाद्भित्तिभेदो न भवति। उच्चैस्तरत्वाच्च द्वारे प्रवेशो न स्यात्। तदेनं मायावचनैर्विश्वास्याऽहं छात्रतां व्रजामि येन स विश्वस्तः कदाचिद्विश्वासमेति।

और मठ में, मजबूत पत्थर का बना होने के कारण, सेंध भी नहीं दिया जा सकता। अधिक ऊँचा होने के कारण द्वार में प्रवेश भी नहीं हो सकता। अतः इनको कपट-वाक्यों (चिकनी-चुपड़ी बातों) द्वारा विश्वास दिलाकर, मैं छात्र बन जाऊँ, जिससे यह विश्वस्त होकर कदाचित् विश्वास में आ जाय।

उक्तं च—

कहा है—

निःस्पृहो नाऽधिकारी स्यान्नाऽकामी मण्डनप्रियः।
नाऽविदग्धः प्रियं ब्रूयात् स्फुटवक्ता न वञ्चकः ॥१७५॥

जो इच्छा रहित है वह (धन का) अधिकारी नहीं हो सकता, कामेच्छा-हीन मनुष्य शृङ्गार-प्रिय नहीं हो सकता, मूर्ख कभी प्रिय नहीं बोल सकता, और स्पष्ट बात कहनेवाला धूर्त नहीं हो सकता ॥१७५॥

एवं निश्चित्य तस्यान्तिकमुपगम्य 'ॐ नमः शिवाय' इति प्रोच्चार्य साष्टाङ्गं प्रणम्य च सप्रश्रयमुवाच—'भगवन्! असारः संसारोऽयम्, गिरिनदीवेगोपमं यौवनम्, तृणाग्निसमं जीवितम्, शरदभ्रच्छायासदृशा भोगाः, स्वप्नसदृशो मित्रपुत्रकलत्रभृत्यवर्गसम्बन्धः, एवं मया सम्यक् परिज्ञातम्। तत् किं कुर्वतो मे संसारसमुद्रोत्तरणं भविष्यति ?'

ऐसा निश्चय कर उसके निकट जाकर 'ॐ नमः शिवाय' ऐसा उच्चारण कर, साष्टाङ्ग प्रणाम कर, सस्नेह बोला—'भगवन्! यह संसार सारहीन है, पहाड़ी नदी के वेग के तुल्य यौवन है, तृण की अग्नि के समान जीवन है, शरद् ऋतु के बादल की छाया के सदृश (क्षण में विध्वंस होनेवाला) भोग-विलास है, स्वप्नवत् मित्र-पुत्र-भार्या-भृत्य-वर्ग का सम्बन्ध है। यह सब मैंने अच्छी तरह जान लिया है। अतः क्या करने से मैं संसार रूपी सागर को पार कर सकूँगा ?'

तच्छ्रुत्वा देवशर्मा सादरमाह—'वत्स! धन्योऽसि यत् प्रथमे वयस्येवं विरक्तिभावः।

यह सुनकर देवशर्मा ने, आदर-पूर्वक कहा—'वत्स ! धन्य हो, जो प्रथमावस्था ही में तुम्हारे अन्दर वैराग्य का उदय हुआ।

उक्तं च—

कहा है—

पूर्वे वयसि यः शान्तः स शान्त इति मे मतिः।
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते ? ॥१७६॥

पहली अवस्था में जो शान्त है, वही शान्त है—ऐसी मेरी सम्मति है, क्योंकि धातु के क्षीण हो जाने पर किसमें शान्ति नहीं आ जाती ॥१७६॥

आदौ चित्ते ततः काये सतां सम्पद्यते जरा।
असतां तु पुनः काये नैव चित्ते कदाचन ॥१७७॥

सज्जनों के पहले चित्त में, तब शरीर में वृद्धावस्था आती है; किन्तु दुष्टों के शरीर में वृद्धावस्था आने पर भी, चित्त में कभी नहीं आती ॥१७७॥

यच्च मां संसारसागरोत्तरणोपायं पृच्छसि, तच्छ्रूयताम्—

जो मुझसे संसार सागर से तर जाने का उपाय पूछते हो तो सुनो—

शूद्रो वा यदि वान्योऽपि चाण्डालोऽपि जटाधरः।
दीक्षितः शिवमन्त्रेण स भस्माङ्गी शिवो भवेत् ॥१७८॥

शूद्र हो, अथवा अन्य कोई, यहाँ तक कि चाण्डाल भी जटाधारण करने वाला हो तो शिवमन्त्र द्वारा दीक्षित होने पर, केवल शरीर में भस्म लगाने पर वह शिव स्वरूप हो जाता है ॥१७८॥

षडक्षरेण मन्त्रेण पुष्पमेकमपि स्वयम्।
लिङ्गस्य मूर्ध्नि यो दद्यान्न स भूयोऽभिजायते' ॥१७९॥

जो स्वयं षडक्षर मन्त्र (ॐ नमः शिवाय) से एक फूल भी शिवलिङ्ग के मस्तक पर चढ़ाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता' ॥१७९॥

तच्छ्रुत्वाऽऽषाढभूतिस्तत्पादौ गृहीत्वा सप्रश्रयमिदमाह—'भगवन् तर्हि दीक्षया मेऽनुग्रहं कुरु।'

उसे सुनकर आषाढ़भूति उसके दोनों पैरों को पकड़कर सस्नेह यह कहने लगा—'भगवन् ! तब दीक्षा (मन्त्र का उपदेश) देकर मेरे ऊपर कृपा कीजिए।

देवशर्मा आह—'वत्स ! अनुग्रहं ते करिष्यामि । परन्तु रात्रौ त्वया मठमध्ये न प्रवेष्टव्यम् । यत्कारणं निःसङ्गता यतीनां प्रशस्यते, तव च ममापि च ।

देवशर्मा ने कहा—'वत्स ! तुम्हारे ऊपर कृपा करूँगा; किन्तु रात्रि में तुम मठ में प्रवेश न करना । इसका कारण यह है कि यतियों का संग-रहित होना प्रशंसनीय है । यही बात तुम्हारे लिये और मेरे लिये भी (निःसङ्ग होना ही अच्छा) है ।

उक्तं च—

कहा भी है—

दुर्मन्त्रान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात् सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात् कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।
मैत्री चाऽप्रणयात् समृद्धिरनयात् स्नेहः प्रवासाश्रयात्
स्त्री गर्वादनवेक्षणादपि कृषिस्त्यागात् प्रमादाद्धनम् ॥१८०॥

बुरी सलाह के कारण राजा, विषयादि में राग रखने के कारण यति, लालन (स्नेह-पूर्वक लाड प्यार) करने से पुत्र, अध्ययन न करने से ब्राह्मण, बुरी सन्तति (कुपुत्र) से कुल, दुष्टों की उपासना (सेवा) करने से शील (सदाचार), स्नेह-शून्यता से मित्रता, अनीति से समृद्धि, परदेश में रहने के कारण स्त्री, गर्व के कारण न देखभाल करने से कृषि (खेती), त्याग और लापरवाही से धन का नाश होता है ॥१८०॥

तत् त्वया व्रतग्रहणानन्तरं मठद्वारे तृणकुटीरके शयितव्यम्' इति । स आह—'भगवन् ! भवदादेशः प्रमाणम् । परत्र हि तेन मे प्रयोजनम् ।' अथ कृतशयनसमयं देवशर्मा अनुग्रहं कृत्वा शास्त्रोक्तविधिना शिष्यतामनयत् । सोऽपि हस्तपादावमर्दनादिपरिचर्यया तं परितोषमनयत् । पुनस्तथापि मुनिः कक्षान्तरान्मात्रां न मुञ्चति ।

'सो तुम्हें व्रत करने के अनन्तर मठ के द्वार पर, पत्ते की कुटी में शयन करना चाहिए ।' उसने कहा—'भगवन् ! आपकी आज्ञा ही प्रमाण है । परलोक में कल्याण हो, यही मेरा प्रयोजन है ।' शयन के समय को निर्धारित कर, देवशर्मा

ने शास्त्रप्रतिपादित विधि से, उसे शिष्य बनाया। वह भी हाथ पैर दाबने आदि की सेवा-शुश्रूषा से उसे सन्तुष्ट करने लगा। इतना होने पर भी वह मुनि अपनी काँख से धन की पोटरी को अलग नहीं करता था।

अथैवं गच्छति काले आषाढभूतिश्चिन्तयामास—'अहो ! न कथञ्चिदेष मे विश्वासमागच्छति। तत् किं दिवापि शस्त्रेण मारयामि ? किं वा विषं प्रयच्छामि ? किं वा पशुधर्मेण व्यापादयामि' ? इति।

तब कुछ समय व्यतीत हो जाने पर, आषाढ़भूति ने विचार किया—अत्यन्त आश्चर्य की बात है, यह किसी तरह मेरे विश्वास में नहीं आता (अर्थात् मेरा विश्वास नहीं करता); तो क्या दिन में शस्त्र से मार (कत्ल कर) डालूँ, अथवा विष दे दूँ, अथवा पशुओं की तरह गला घोंट दूँ।

एवं चिन्तयतस्तस्य देवशर्मणोऽपि शिष्यपुत्रः कश्चिद्ग्रामादामन्त्रणार्थं समायातः। प्राह च—'भगवन् ! पवित्रारोपणकृते मम गृहमागम्यताम्' इति।

ऐसा उसके सोचने पर, देवशर्मा के शिष्य का पुत्र, किसी गाँव से निमन्त्रण देने के लिए आया। उसने कहा—'भगवन् ! पवित्रारोपण के निमित्त (यज्ञोपवीत संस्कार देने के लिये) मेरे घर पर आइयेगा।'

तच्छ्रुत्वा देवशर्माऽऽषाढभूतिना सह प्रहृष्टमनाः प्रस्थितः। अथैवं तस्य गच्छतोऽग्रे काचिन्नदी समायाता। तां दृष्ट्वा मात्रां कक्षान्तरादवतार्य कन्थामध्ये सुगुप्तां निधाय, स्नात्वा, देवार्चनं विधाय तदनन्तरमाषाढभूतिमिदमाह—

यह सुनकर देवशर्मा ने आषाढभूति के साथ, हर्षित हो, प्रस्थान किया। उनको राह में कोई नदी मिली। उसे देखकर, मात्रा (पोटरी) को काँख से निकालकर, गुदड़ी (सूत से गुथे हुए पुराने कपड़ों के चीथड़े) में छिपा रखा, स्नान, देवपूजा करने के अनन्तर आषाढ़भूति से उसने कहा—

१ पवित्रस्य (यज्ञोपवीतस्य) विष्णवे आरोपणं (दानं) यत्र = जिसमें यज्ञोपवीत को विष्णु के निमित्त अर्पण किया जाता है।

'भो आषाढभूते ! यावदहं पुरीषोत्सर्गं कृत्वा समागच्छामि, तावदेषा कन्था योगेश्वरस्य सावधानतया रक्षणीया।' इत्युक्त्वा गतः। आषाढभूतिरपि तस्मिन्नदर्शनीभूते मात्रामादाय सत्वरं प्रस्थितः।

'हे आषाढ़भूति ! जब तक मैं मल-त्यागकर न आऊँ तब तक इस योगेश्वर (शिव) की गुदड़ी की, सावधानतापूर्वक, रक्षा करना' ऐसा कहने के बाद चला गया। आषाढ़भूति भी, उसके आँखों के ओझल होने पर, उस गठरी को लेकर चलता बना।

देवशर्माऽपि छात्रगुणानुरञ्जितमनाः सुविश्वस्तो यावदुपविष्टस्तिष्ठति तावत् सुवर्णरोमदेहयूथमध्ये हुडुयुद्धमपश्यत्। अथ रोषवशाद्धुडुयुगलस्य दूरमपसरणं कृत्वा भूयोऽपि समुपेत्य ललाटपट्टाभ्यां प्रहरतो भूरि रुधिरं पतति। तच्च जम्बूको जिह्वालौल्येन रङ्गभूमिं प्रविश्याऽऽस्वादयति।

देवशर्मा भी छात्र के गुणों पर प्रसन्न होकर, विश्वास करके जब तक बैठा रहा तभी सुवर्ण सदृश रोमवाले हुडु युद्ध (दो मेढ़ों की लड़ाई) को देखने लगा। तब क्रोध में भर कर दोनों हुडु पहले-पहल कुछ दूर जाते तब बड़े वेग से आकर मस्तक पर प्रहार करते—जिससे खूब खून निकलता। तब एक गीदड़, जिह्वा की चञ्चलता (अर्थात् लालच) के कारण रङ्गभूमि (युद्धस्थल) में प्रवेश कर, रक्त को चखता था।

देवशर्माऽपि तदालोक्य व्यचिन्तयत्—अहो ! मन्दमतिरयं जम्बूकः। यदि कथमप्यनयोः संघट्टे पतिष्यति तन्नूनं मृत्युमवाप्स्यतीति वितर्कयामि।' क्षणान्तरे च तथैव रक्तास्वादनलौल्यान्मध्ये प्रविशंस्तयोः शिरःसम्पाते पतितो मृतश्च शृगालः।

देवशर्मा ने उसे अवलोकन कर विचार किया—'अहो ! यह गीदड़ मूर्ख है। यदि किसी तरह इन दोनों की चपेट में पड़ जायगा तो अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त हो जायगा, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ।' थोड़ी ही देर के बाद जब यह रक्त के आस्वादन करने में लगा हुआ था कि उन दोनों के शिर के टक्कर खाने से वह गिर पड़ा और मर गया।

देवशर्माऽपि तं शोचमानो मात्रामुद्दिश्य शनैः शनैः प्रस्थितो यावदाषाढभूतिं न पश्यति ततश्चौत्सुक्येन शौचं विधाय यावत् कन्थामालोकयति तावन्मात्रां न पश्यति। ततश्च 'हा! हा! मुषितोऽस्मि' इति जल्पन् पृथिवीतले मूर्च्छया निपपात।

देवशर्मा भी उसका सोच करता हुआ, अपने धन की स्मृति कर, धीरे २ चला; जब आषाढ़भूति नहीं दिखाई पड़ा तब उत्सुकता के कारण शौचक्रिया से निवृत्त हो गुदड़ी को देखने लगा तो उसमें धन नहीं दिखाई पड़ा। तदनन्तर 'हाय! हाय! मैं लुट गया' ऐसा कहता हुआ मूर्च्छा (बेहोशी) आ जाने के कारण पृथ्वीतल पर गिर पड़ा।

ततः क्षणाच्चेतनां लब्ध्वा भूयोऽपि समुत्थाय फूत्कर्तुमारब्धः—'भो आषाढ़भूते! क्व मां वञ्चयित्वा गतोऽसि। तद्देहि मे प्रतिवचनम्।' एवं बहु विलप्य तस्य पदपद्धतिमन्वेषयन् शनैः शनैः प्रस्थितः।

क्षण भर बाद संज्ञा (होश) प्राप्तकर, फिर भी उठकर, जोर से आहें भरने लगा—'ऐ आषाढ़भूति! मुझे धोखा देकर कहाँ गये? मुझे इसका उत्तर दो।' इस प्रकार अनेक विधि विलापकर, उसके चरण चिह्नों का अन्वेषण करते धीरे २ चल दिया।

अथैवं गच्छन् सायंतनसमये कञ्चिद्ग्राममाससाद। अथ तस्माद् ग्रामात् कश्चित् कौलिकः सभार्यो मद्यपानकृते समीपवर्तिनि नगरे प्रस्थितः। देवशर्माऽपि तमालोक्य प्रोवाच—'भो भद्र! वयं सूर्योढा[1] अतिथयस्तवान्तिकं प्राप्ताः। न कमप्यत्र ग्रामे जानीमः। तद्गृह्यतामतिथिधर्मः। उक्तं च—

इस प्रकार चलते-चलते सायंकाल के समय किसी गाँव में पहुँचा। उस गाँव से कोई कौलिक, स्त्री के सहित मद्यपान करने के लिए, समीप के नगर की ओर चला जा रहा था। देवशर्मा ने, उसे देखकर, कहा—'हम सूर्योढ (सूर्यास्त के समय पहुँचे हुए) अतिथि हैं, तुम्हारे समीप आये हैं; और किसी को भी इस गाँव में नहीं जानते। इसलिए आप मेरा अतिथि-सत्कार कीजिए।

१ सूर्येण (सूर्यास्तकालेन) ऊढाः (प्रापिताः)।

कहा है—

सम्प्राप्तो योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिनाम् ।
पूजया तस्य देवत्वं प्रयान्ति गृहमेधिनः ॥१८१॥

जो अतिथि सन्ध्या के सूर्यास्त के समय गृहस्थों के यहाँ पहुँचे तो उसकी पूजा करने से गृहस्थ लोग देवता के समान हो जाते हैं ॥१८१॥

तथा च—

उसी प्रकार—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि हर्म्येषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥१८२॥

तृण (चटाई), भूमि, जल एवं चौथी सत्य और प्रिय वाणी—ये सज्जनों के भवन से कभी भी नष्ट नहीं होतीं ॥१८२॥

स्वागतेनाऽग्नयस्तृप्ता आसनेन शतक्रतुः ।
पादशौचेन पितरो ह्यर्घाच्छम्भुस्तथाऽतिथेः' ॥१८३॥

'आप भले आये, आपका स्वागत है' इस प्रकार अतिथि को पूछने से अग्नि, आसन-प्रदान करने से शतक्रतु (इन्द्र), पादप्रक्षालन से पितर और अर्घ्यदान से शङ्कर जी तृप्त होते हैं ॥१८३॥

कौलिकोऽपि तच्छ्रुत्वा भार्यामाह 'प्रिये ! गच्छ त्वमतिथिमादाय गृहं प्रति । पादशौचभोजनशयनादिभिः सत्कृत्य त्वं तत्रैव तिष्ठ । अहं तव कृते प्रभूतं मद्यमानेष्यामि ।' एवमुक्त्वा प्रस्थितः । सापि भार्या पुंश्चली तमादाय प्रहसितवदना देवदत्तं मनसि ध्यायन्ती गृहं प्रति प्रतस्थे । अथवा साधु चेदमुच्यते—

कौलिक ने, उसे सुनकर, अपनी स्त्री से कहा—'हे प्यारी ! तू अतिथि को लेकर घर जा । पाद प्रक्षालन, भोजन और शयन आदि से सत्कार करके तू वहीं रह जाना । मैं तेरे लिए बहुत मद्य ले आऊँगा ।' ऐसा कहकर चल दिया । वह व्यभिचारिणी स्त्री उसे लेकर, हँसती हुई, चित्त में देवदत्त का ध्यान करती हुई, घर की ओर रवाना हो गयी । अथवा ठीक कहा है—

† दुर्दिवसे घनतिमिरे दुःसञ्चारासु नगरवीथीषु ।
पत्युर्विदेशगमने परमसुखं जघनचपलायाः ॥१८४॥

बादलों द्वारा ढँके हुए दिन में, गाढ़ अन्धकार में, प्रवेश रहित गलियों में तथा पति के विदेश गमन करने पर, चपल-जंघा (पुंश्चली) स्त्रियों को अत्यन्त आनन्द होता है ॥१८४॥

तथा च—

और भी—

पर्यङ्केष्वास्तरणं पतिमनुकूलं मनोहरं शयनम् ।
तृणमिव लघु मन्यन्ते कामिन्यश्चौर्यरतलुब्धाः ॥१८५॥

सेज पर सुन्दर आच्छादन वस्त्र के साथ सोना, अपने अनुकूल पति, एवं मनोरम शयन को भी—चोरी से रति की लोलुप कामिनियाँ (विषयाभिलाषिणी स्त्रियाँ)-तृण के समान तुच्छ मानती हैं ॥१८५॥

तथा च—

और भी—

केलिं प्रदहति लज्जा शृङ्गारोऽस्थीनि चाटवः कटवः ।
बन्धक्याः परितोषो न किञ्चिदिष्टं भवेत् पत्यौ ॥१८६॥

काम केलि को लज्जा जलाती है, हड्डियों को शृङ्गार, प्रियवचन (पति के हँसी मजाक) को कडुवा समझती हैं—व्यभिचारिणी स्त्रियों को न तो पति से सन्तोष होता है और न उसकी अभिलाषा होती है ॥१८६॥

कुलपतनं जनगर्हां बन्धनमपि जीवितव्यसन्देहम् ।
अङ्गीकरोति कुलटा सततं परपुरुषसंसक्ता ॥१८७॥

अपने वंश का पतन, लोकनिन्दा, बन्धन (पकड़ कर घर में बन्द किया जाना) और जीवन में सन्देह—ये सब बातें, सर्वदा पर-पुरुष आसक्त कुलटा स्त्री अङ्गीकार कर लेती हैं ॥१८७॥

अथ कौलिकभार्या गृहं गत्वा देवशर्मणे गताऽऽस्तरणां भग्नां

† 'मेघाच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्' इत्यमरः ।

खट्वां समर्प्येदमाह—'भो भगवन्! यावदहं स्वसखीं ग्रामादभ्यागतां सम्भाव्य द्रुतमागच्छामि तावत् त्वया मद्गृहेऽप्रमत्तेन भाव्यम्।'

कौलिक की स्त्री अपने घर जाकर, देवशर्मा को बिना बिछौने की एक टूटी खाट समर्पण कर, बोली—'भगवन्! जब तक मैं गाँव से आयी हुई अपनी सखी से बातचीत न कर आऊँ तब तक आप मेरे घर में होशियारी से रहिएगा।'

एवमभिधाय शृङ्गारविधिं विधाय यावद्देवदत्तमुद्दिश्य व्रजति तावत् तद्भर्ता सम्मुखो मदविह्वलाङ्गो मुक्तकेशः पदे पदे प्रस्खलन् गृहीतमद्यभाण्डः समभ्येति। तं च दृष्ट्वा सा द्रुततरं व्याघुट्य स्वगृहं प्रविश्य मुक्तशृङ्गारवेषा यथापूर्वमभवत्।

यह कहकर विधिपूर्वक शृङ्गार कर ज्योंही देवदत्त से मिलने चली कि त्योंही उसका पति नशा में चूर शरीरवाला, बाल खोले हुए, एक एक पद पर गिरता हुआ, शराब की बर्तन लिए हुए सामने आ पहुँचा। उसे देख कर वह बहुत तेज़ी से लौट पड़ी और अपने घर में प्रवेश कर शृङ्गारभूषा को उतार कर, जिस प्रकार पहले थी वैसी हो गयी।

कौलिकोऽपि तां पलायमानां कृताद्भुतशृङ्गारां विलोक्य प्रागेव कर्णपरम्परया तस्याः श्रुतापवादक्षुभितहृदयः स्वाकारं निगूहमानः सदैवाऽऽस्ते। ततश्च तथाविधं चेष्टितमवलोक्य दृष्टप्रत्ययः क्रोधवशगो गृहं प्रविश्य तामुवाच—'आः पापे पुंश्चलि! क्व प्रस्थितासि?'

कौलिक ने भागती हुई और अजीब शृङ्गार की हुई उसको देखकर, पहले ही से अपने कानों उसकी निन्दा सुन चुकने के कारण क्षुब्ध हृदय होकर वह, अपने आकार (हार्दिक भाव) को सदा छिपाए रहता था। उस प्रकार उसकी चेष्टा को देखकर, देखी हुई बात का विश्वास कर, क्रोध के वशीभूत हो, घर में घुसकर उससे कहा—'अरी पापिनी! व्यभिचारिणी! कहाँ जा रही थी?'

सा प्रोवाच—'अहं त्वत्सकाशादागता न कुत्रचिदपि निर्गता। तत् कथं मद्यपानवशादप्रस्तुतं वदसि? अथवा साधु चेदमुच्यते—

उसने उत्तर दिया कि 'मैं आपके पास से आने पर कहीं नहीं गयी। सो शराब पीने के कारण क्यों फजूल बकते हो?' अथवा सत्य कहा है—

वैकल्यं धरणीपातमयथोचितजल्पनम् ।
सन्निपातस्य चिह्नानि मद्यं सर्वाणि दर्शयेत् ॥१८८॥

विकलता, पृथ्वी पर गिरना, अण्ट सण्ट बकना—ये सन्निपात के सब चि(लक्षण) मद्य में वर्तमान रहते हैं ॥१८८॥

करस्पन्दोऽम्बरत्यागस्तेजोहानिः सरागता ।
वारुणीसङ्गजाऽवस्था भानुनाऽप्यनुभूयते' ॥१८९॥

† करस्पन्दन (हाथ में कँपकपी), कपड़ा खोलकर फेंक देना, निस्तेज, रागता, मद्य-पान से उत्पन्न हुई अवस्था की तुलना (अस्त होते हुए) सूर्य से की जाती है ॥१८९॥

सोऽपि तच्छ्रुत्वा प्रतिकूलवचनं वेषविपर्ययं चाऽवलोक्य तामाह—'पुंश्चलि ! चिरकालं श्रुतो मया तवाऽपवादः । तदद्य स्वयं सञ्जातप्रत्ययस्तव यथोचितं निग्रहं करोमि ।' इत्यभिधाय लगुडप्रहारैस्तां जर्जरितदेहां विधाय स्थूणया सह दृढबन्धनेन बद्ध्वा सोऽपि मदविह्वलो निद्रावशमगमत् ।

उसने उसे सुनकर उलटी-पुलटी बात तथा बदले हुए वेश को देखकर कहा—अरी व्यभिचारिणी ! बहुत दिनों से मैंने तेरी अपकीर्ति सुन रखी थी। सो आज स्वयं देखकर विश्वास दृढ़ हो गया है । अब तेरी यथोचित पूजा करता हूँ । ऐसा कहकर डण्डे की मार से उसके शरीर को जर्जरित कर, खम्भे के साथ उसे बाँधकर, नशा से अभिभूत होकर वह निद्रा के वश हो गया (अर्थात् उसे निद्रा आ गयी) ।

अत्राऽन्तरे तस्याः सखी नापिती कौलिकं निद्रावशगतं विज्ञाय तां गत्वेदमाह—'सखि ! स देवदत्तस्तस्मिन् स्थाने त्वां प्रतीक्षते । तच्छीघ्रमागम्यताम्' इति ।

† कर=(१) हाथ (२) किरण; अम्बर=(१) वस्त्र (२) आकाश; तेजस्=(१) शरीर की कान्ति (२) प्रकाश, ज्योति; राग=(१) क्रोध (२) लालरङ्ग ।

इसी बीच उसकी सहेली नाइन, कौलिक को निद्रा के वशीभूत जानकर, उसके पास जाकर यह कहने लगी—'हे सखी! वह देवदत्त उस (निर्दिष्ट) स्थान पर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। अतः शीघ्र आओ।'

सा चाह—'पश्य ममाऽवस्थाम्। तत् कथं गच्छामि? तद्गत्वा ब्रूहि तं कामिनं यदस्यां रात्रौ न त्वया सह समागमः।' नापिती प्राह—'सखि! मामैवं वद। नाऽयं कुलटाधर्मः।

उसने कहा—'मेरी अवस्था तो देखो। भला मैं क्योंकर (किस तरह) जा सकती हूँ? इसलिए जाकर उस कामी पुरुष से तू ही कह दे कि आज की रात्रि में तुम्हारे साथ समागम न हो सकेगा।' नाइन ने कहा—सखी! इस तरह न कह। यह व्यभिचारिणी स्त्री का धर्म नहीं है।

उक्तं च—

कहा है—

विषमस्थस्वादुफलग्रहणव्यवसायनिश्चयो येषाम्।
उष्ट्राणामिव तेषां मन्येऽहं शंसितं जन्म ॥१९०॥

जिस प्रकार दुर्गम स्थान में लगे हुए स्वादिष्ट फल के भक्षण करने का ऊँटों का स्वभाव होता है उसी प्रकार दुर्लभ पर-पुरुष समागम के आनन्द उठाने का जिनका निश्चय दृढ़ होता है उन्हीं का जन्म मैं ऊँटों की भाँति प्रशंसा के योग्य समझती हूँ ॥ १९० ॥

तथा च—

और—

सन्दिग्धे परलोके जनापवादे च जगति बहुचित्रे।
स्वाधीने पररमणे धन्यास्तारुण्यफलभाजः ॥ १९१ ॥

परलोक में क्या होगा यह सन्देहास्पद है, इसलोक में बहुत तरह की झूठ-सच विचित्र लोक-निन्दा होती रहती है, पर दूसरे के साथ भोग करना अपने वश की बात है। अतः वह महिला धन्य है जो अपनी युवावस्था का आनन्द उठाती है ॥ १९१ ॥

अन्यच्च।

और भी—

यदि भवति दैवयोगात् पुमान् विरूपोऽपि बन्धकी रहसि ।
न तु कृच्छ्रादपि भद्रं निजकान्तं सा भजत्येव' ॥१९२॥

यदि भाग्यवश कुरूप पुरुष भी एकान्त में व्यभिचारिणी को मिल जाय तो कष्ट से प्राप्य ऐसे पुरुष के साथ भोग करे किन्तु अच्छे (आकारवाले) रूपवान् अपने पति के साथ विहार करने की आवश्यकता नहीं ॥ १९२ ॥

साऽब्रवीत्—'यद्येवं तर्हि कथय कथं दृढबन्धनबद्धा सती तत्र गच्छामि ? सन्निहितश्चाऽयं पापात्मा मत्पतिः ।' नापित्याह—'सखि! मदविह्वलोऽयं सूर्यकरस्पृष्टः प्रबोधं यास्यति । तदहं त्वामुन्मोचयामि। मामात्मस्थाने बद्ध्वा द्रुततरं देवदत्तं सम्भाव्याऽऽगच्छ ।' साऽब्रवीत्—'एवमस्तु' इति । तदनु सा नापिती तां स्वसखीं बन्धनाद्विमोच्य तस्याः स्थाने यथापूर्वमात्मानं बद्ध्वा तां देवदत्तसकाशे सङ्केतस्थानं प्रेषितवती।

वह बोली—'यदि ऐसी बात है, तो कह, किस प्रकार मैं मजबूत बन्धन में बँधी हुई, वहाँ जा सकती हूँ ? (दूसरे) यह पापी मेरा पति सन्निकट ही है।' नाइन ने कहा—'हे सखी ! नशे में चूर यह मनुष्य सूर्य के किरणों के स्पर्श (प्रभात) होने पर जागेगा । अतः मैं तुम्हें छुड़ा देती हूँ । मुझे अपने स्थान पर बाँधकर, देवदत्त की अभिलाषा पूरी कर, अति शीघ्र आ जा । उसने कहा—राजी हूँ । तदनन्तर उस नाइन ने, उस अपनी सखी को बन्धन-रहित कर, उसके स्थान पर पूर्ववत् अपने को बँधवाकर, उसे देवदत्त के समीप सङ्केतस्थल (प्यारे से मिलने के लिए गुप्त एवं निर्दिष्ट स्थान) पर, भेज दिया ।

तथाऽनुष्ठिते कौलिकः कस्मिंश्चित् क्षणे समुत्थाय किञ्चिद्गतकोपो विमदस्तामाह—'हे परुषवादिनि ! यद्यद्यप्रभृति गृहान्निष्क्रमणं न करोषि न च परुषं वदसि, ततस्त्वामुन्मोचयामि ।' नापित्यपि स्वरभेदभयाद् यावन्न किञ्चिदूचे, तावत् सोऽपि भूयो भूयस्तां तदेवाऽऽह ।

उसके बाद कौलिक ने कुछ देर के बाद उठकर कुछ कोपरहित हो और मदहीन (नशा दूर) होने के बाद, कहा—'अरी कटुभाषिणी ! यदि आज से अब कभी घर से बाहर न निकले और न कठोर बात कहे तो मैं तुझे खोल दूँ।' नाइन ने स्वरभेद की आशङ्का से जब कुछ नहीं कहा तब वह बारम्बार उससे इस प्रकार कहने लगा ।

अथ सा यावत् प्रत्युत्तरं किमपि न ददौ, तावत् स प्रकुपितस्तीक्ष्ण-शस्त्रमादाय तस्या नासिकामच्छिनत्। आह च—'रे पुंश्चलि! तिष्ठेदानीम्। न त्वां भूयस्तोषयिष्यामि' इति जल्पन् पुनरपि निद्रावशमगमत्। देवशर्माऽपि वित्तनाशात् क्षुत्क्षामकण्ठो नष्टनिद्रस्तत् सर्वं स्त्रीचरित्रमपश्यत्।

जब उसने कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दिया तब वह क्रुद्ध हुआ और तीक्ष्ण शस्त्र को लेकर, उसने उसकी नाक काट ली। और उससे, कहा—'अरी कुलटे! ऐसी ही बँधी रह, अब मैं तेरी खुशामद न करूँगा।' यह कहकर फिर निद्रा के वशीभूत हो गया। देवशर्मा भी धन-नाश के कारण, भूख से सूखा हुआ कण्ठवाला और ऊँघाई न आने के कारण यह सब त्रिया-चरित्र देखता रहा।

साऽपि कौलिकभार्या यथेच्छया देवदत्तेन सह सुरतसुखमनुभूय कस्मिंश्चित् क्षणे स्वगृहमागत्य तां नापितीमिदमाह—'अयि! शिवं भवत्याः? नायं पापात्मा मम गताया उत्थितः?' नापित्याह—'शिवं नासिकया विना शेषस्य शरीरस्य। तद्द्रुतं मां मोचय बन्धनाद्यावन्नायं मां पश्यति, येन स्वगृहं गच्छामि।'

वह कौलिक की पत्नी, देवदत्त के साथ पुरुष-सङ्गम से उत्पन्न हुए सुख का मन-माना अनुभव कर, कुछ क्षण के बाद अपने घर आकर उस नाइन से, बोली—'अयि! कुशल तो है? यह पापी मेरे जाने पर उठा तो नहीं था?' नाइन ने कहा—'नासिका के बिना और शेष शरीर के अवयवों का कुशल है। सो शीघ्रता से, मुझे बन्धन से खोल दे, जिसमें यह मुझे न देख ले और मैं अपने घर चली जाऊँ।'

यथाऽनुष्ठिते भूयोऽपि कौलिक उत्थाय तामाह—'पुंश्चलि! किमद्याऽपि न वदसि? किं भूयोऽप्यतो दुष्टतरं निग्रहं कर्णच्छेदेन करोमि?' अथ सा सकोपं साधिक्षेपमिदमाह—'धिङ्महामूढ! को मां महासतीं धर्षयितुं व्यङ्गयितुं वा समर्थः? तच्छृण्वन्तु सर्वेऽपि लोकपालाः।

वैसा करने के बाद फिर कौलिक ने उठकर उससे कहा—'व्यभिचारिणी! अब भी क्यों नहीं बोलती? क्या अब इससे कठिन दण्ड, कान काटने का दूँ।'

तब उसने क्रोध पूर्वक और तिरस्कार-पूर्वक उत्तर दिया—धिक्कार है! धिक्कार है! अरे मूर्खराज! मुझ महासती को डाँटने व विकलाङ्ग करने में कौन समर्थ है। अतः सब लोकपाल सुन लें।

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥१९३॥

सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, वसुन्धरा, जल, हृदय, यमराज, दिन, रात्रि, दोनों सन्ध्याएँ (प्रातः एवं सायं की) और धर्म—ये सब मनुष्यों के वृत्तान्त (चरित्र) जानते हैं ॥१९३॥

तद्यदि मम सतीत्वमस्ति, मनसाऽपि परपुरुषो नाभिलषितः, ततो देवा भूयोऽपि मे नासिकां तादृग्रूपामक्षतां कुर्वन्तु। अथवा यदि मम चित्ते परपुरुषस्य भ्रान्तिरपि भवति तदा मां भस्मसान्नयन्तु।' एवमुक्त्वा भूयोऽपि तमाह—'भो दुरात्मन्! पश्य मे सतीत्वप्रभावेण तादृश्येव नासिका संवृत्ता।'

इसलिए यदि मेरा सतीत्व है, और मन से भी अन्य मनुष्य की अभिलाषा मैंने नहीं की है तो देवता मेरी नासिका फिर से उसी प्रकार (पूर्ववत्) अक्षत कर दें। और यदि मेरे मन में पर-पुरुष की भ्रान्ति हो तो मुझे भस्म कर देवें। इस प्रकार कहकर, फिर उसने उससे कहा—'अरे दुष्टात्मा! देख मुझ सती के प्रभाव से मेरी नाक उसी प्रकार (पूर्ववत्) होगयी है।'

अथाऽसावुल्मुकमादाय यावत् पश्यति तावत् तद्रूपां नासिकां च भूतले रक्तप्रवाहं च महान्तमपश्यत्। अथ स विस्मितमनास्तां बन्धनाद्विमुच्य शय्यायामारोप्य च चाटुशतैः पर्यतोषयत्। देवशर्माऽपि तं सर्ववृत्तान्तमालोक्य विस्मितमना इदमाह—

इसके अनन्तर बत्ती लेकर जब देखता है तब उसी रूप की नासिका, और पृथ्वी तल पर अत्यन्त रक्त प्रवाह उसे दिखलाई पड़ा। तब आश्चर्य चकित होकर उसे बन्धन से मुक्त कर, शय्या पर बैठाकर, सैकड़ों चाटूक्तियों (प्रिय वचनों) से, वह (उसकी) खुशामद करने लगा। देवशर्मा ने भी, उन सब घटनाओं को देखकर, आश्चर्यान्वित होकर, यह कहा—

शम्बरस्य च या माया या माया नमुचेरपि।
बलेः कुम्भीनसेश्चैव सर्वास्ता योषितो विदुः ॥१९४॥

जो शम्बर दैत्य की माया है, जो माया नमुचि राक्षस (शुम्भ-निशुम्भ के छोटे भाई) की है, जो बलि (विरोचन के पुत्र) और कुम्भीनसी (लवणासुर की माता अथवा लङ्केश्वर रावण की मौसी) की माया है—उन सब को स्त्रियाँ जानती हैं ॥१९४॥

हसन्तं प्रहसन्त्येता रुदन्तं प्ररुदन्त्यपि।
अप्रियं प्रियवाक्यैश्च गृह्णन्ति कालयोगतः ॥१९५॥

हँसते हुए के साथ हँसती हैं, रोते हुए के साथ रोती हैं और जैसा अवसर होता है उसके अनुसार अप्रिय बोलने वाले को मीठी बातों से अपने वश में करती हैं ॥१९५॥

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः।
स्त्रीबुद्ध्या न विशेष्येत तस्माद्रक्ष्याः कथं हि ताः ? ॥१९६॥

उशना (शुक्र) जिस शास्त्र को जानते हैं, और जिस शास्त्र को बृहस्पति जानते हैं वह स्त्री की बुद्धि से बाहर की बात नहीं है; अतः उन स्त्रियों की किस प्रकार रक्षा हो सकती है ? ॥१९६॥

अनृतं सत्यमित्याहुः सत्यं चापि तथानृतम्।
इति यास्ताः कथं धीरैः संरक्ष्याः पुरुषैरिह ॥१९७॥

जो झूठ को सच, और सच को झूठ बनाती रहती हैं उनकी, इस लोक में, धैर्यवान् पुरुष, किस प्रकार, रक्षा कर सकते हैं ? ॥१९७॥

अन्यत्राऽप्युक्तम्।

किसी दूसरे स्थान पर यह भी कहा गया है—

नातिप्रसङ्गः प्रमदासु कार्यो नेच्छेद्बलं स्त्रीषु विवर्धमानम्।
अतिप्रसक्तैः पुरुषैर्यतस्ताः क्रीडन्ति काकैरिव लूनपक्षैः ॥१९८॥

स्त्रियों से अतिप्रेम न करे; उनका बल भी न बढ़ने देना चाहिए क्योंकि अत्यन्त आसक्त मनुष्यों के साथ, वे ऐसे क्रीड़ा करती हैं जैसे पंख कटे हुए कौए के साथ लोग क्रीड़ा करते हैं ॥१९८॥

सुमुखेन वदन्ति वल्गुना प्रहरन्त्येव शितेन चेतसा ।
मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदये हालहलं महद्विषम् ॥१९९॥

वे सुन्दर मुख से सुन्दर और मीठी बोल बोलती हैं एवं तीक्ष्ण चित्त से प्रहार करती हैं। क्योंकि स्त्रियों की वाणी में मधु और हृदय में हलाहल घोर विष भरा रहता है ॥१९९॥

अत एव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते ।
पुरुषैः सुखलेशवञ्चितैर्मधुलुब्धैः कमलं यथाऽलिभिः ॥२००॥

इसी लिए तो सुखलेश से वञ्चित हुए एवं मधुरास्वादनप्रिय पुरुषों द्वारा, स्त्रियों के अधर पान किए जाते हैं और हृदय पर मुष्टिका से ताड़ना दी जाती है- जिस तरह मधु-लोलुप भ्रमर कमल के अधर का पान करता है और उसके बिचले भाग का मर्दन करता है ॥२००॥

अपि च—

और भी—

आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां
दोषाणां सन्निधानं कपटशतगृहं क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ।
दुर्ग्राह्यं यन्महद्भिर्नरवरवृषभैः सर्वमायाकरण्डं
स्त्रीयन्त्रं केन लोके विषममृतयुतं धर्मनाशाय सृष्टम् ॥२०१॥

संशयों का भँवर, अविनय का भवन, साहस का नगर, दोषों का भण्डार, कपट-शत का गृह, अविश्वासों का क्षेत्र, जो बड़े २ नररूपी वृषभों से भी ढोयी न जा सके, सब प्रकार की माया की पिटारी के समान स्त्रीरूपी यन्त्र—जिसमें अमृत और विष दोनों है—उसको संसार में धर्म-नाश के लिए किसने रचा है ? ॥२०१॥

कार्कश्यं स्तनयोर्दृशोस्तरलताऽलीकं मुखे दृश्यते
कौटिल्यं कचसञ्चये प्रवचने मान्द्यं त्रिके स्थूलता ।
भीरुत्वं हृदये सदैव कथितं मायाप्रयोगः प्रिये
यासां दोषगणो गुणा मृगदृशां ताः किं नराणां प्रियाः? ॥२०२॥

स्तनों में कठोरता, चक्षुओं में चपलता, मुख में असत्यता, केशों में कुटिलता, वाणी में मधुरता, नितम्बों में स्थूलता, हृदय में भीरुता, प्यारे के साथ सदैव माया (जादू-टोना) का प्रयोग करना, ऐसे दोषसमूह भी जिन मृगनयनियों के गुणवत् माने जाते हैं तो क्या वे मनुष्यों की प्रिया कहीं हो सकती हैं ! ॥२०२

एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतो-
विश्वासयन्ति च परं न च विश्वसन्ति ।
तस्मान्नरेण कुलशीलवता सदैव
नार्यः श्मशानवटिका इव वर्जनीयाः ॥२०३॥

ये अपना मतलब साधने के हेतु हँसती हैं, रोती हैं, दूसरों को विश्वास दिलाती हैं; परन्तु स्वयं दूसरों का विश्वास नहीं करतीं। इसलिए कुलवान् और शीलवान् पुरुष को चाहिए कि वे ऐसी स्त्रियों को, श्मशान के वटवृक्ष के सेवन के समान, उन्हें त्याग दें ॥ २०३ ॥

व्याकीर्णकेशरकरालमुखा मृगेन्द्रा
नागाश्च भूरिमदराजिविराजमानाः ।
मेधाविनश्च पुरुषाः समरेषु शूराः
स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति ॥२०४॥

बिखरे हुए (केश) अयालों द्वारा विकराल मुँहवाले सिंह, अत्यन्त मद-समूह से शोभित हाथी एवं प्रतिभाशाली, युद्धवीर मनुष्य—ये तीनों भी स्त्री के समीप जाकर परम कायर हो जाते हैं ॥२०४॥

कुर्वन्ति तावत् प्रथमं प्रियाणि यावन्न जानन्ति नरं प्रसक्तम् ।
ज्ञात्वा च तं मन्मथपाशबद्धं ग्रस्तामिषमीनमिवोद्धरन्ति ॥२०५॥

वे तब तक हावभाव से प्यार करती हैं जब तक वे नहीं जानतीं कि मनुष्य हमारे ऊपर आसक्त हो गया है। बाद में जब यह जान जाती हैं कि वह कामदेव के पाश में बँध गया है तब जिस तरह आमिष (मांस) के लोभ में मछली वंशी में फँसाकर ऊपर खींच ली जाती है उसी तरह सम्भोग के लोभ में फँसाकर उसे नाच-नचाती हैं या बाहर दुरदुरा देती हैं ॥२०५॥

समुद्रवीचीव चलस्वभावाः सन्ध्याभ्ररेखेव मुहूर्तरागाः ।
स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थं निष्पीडिताऽलक्तकवत् त्यजन्ति॥२०६॥

सागर की तरङ्ग के समान चपल प्रकृतिवाली और सन्ध्या समय के बादल की रेखा के समान मुहूर्त भर के लिए † रागवाली स्त्रियाँ कृतार्थ होकर (अपनी अभिलाषा की पूर्ति कर लेने के बाद) धन-हीन पुरुष को निष्पीड़ित महावर (आलता रङ्ग विशेष—जिसे स्त्रियाँ अपने पैरों में लगाती हैं) की भांति छोड़ देती हैं ॥ २०६ ॥

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता ।
अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥२०७॥

असत्य, साहस, माया, मूर्खता, अतिलोभ, अपवित्रता, और निर्दयता—ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष कहे गये हैं ‡ ॥२०७॥

सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।
एताः प्रविश्य सरलं हृदयं नराणां
किं वा नु वामनयना न समाचरन्ति ? ॥२०८॥

पहले मोहित करती हैं, फिर प्रेम में मतवाला बनाती हैं, कभी उल्लू बनाती हैं, तो कभी रमण करती हैं तो कभी दिल तोड़ती हैं—मनुष्यों के सरल (निष्कपट) हृदयों में प्रवेश कर, ये वामलोचनाएँ क्या क्या नहीं कर डालतीं ! ॥२०८॥

अन्तर्विषमया ह्येता बहिश्चैव मनोरमाः ।
गुञ्जाफलसमाकारा योषितः केन निर्मिताः ? ॥२०९॥

गुञ्जाफल के समान अन्दर से विष संयुक्त और बाहर (बाह्य) से देखने में मनोहर, ऐसी आकारवाली रमणियों का किसने निर्माण किया है ? ॥ २०९ ॥

एवं चिन्तयतस्तस्य परिव्राजकस्य सा निशा महता कृच्छ्रेणाऽतिच-

† राग = (१) स्त्रीपक्ष में 'प्रेम' (२) अभ्र-रेखा पक्ष में 'लाल' ॥

‡ गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में—

नारि-सुभाउ सत्य कवि कहहीं । अवगुन आठ सदा उर रहहीं ।
साहस, अनृत, चपलता, माया । भय, अविवेक, असौच, अदाया ॥

क्राम। सा च दूतिका छिन्ननासिका स्वगृहं गत्वा चिन्तयामास—'किमिदानीं कर्तव्यम्? कथमेतन्महच्छिद्रं स्थगयितव्यम्?'

इस तरह सोच करते-करते उस संन्यासी की वह रात्रि अत्यन्त कष्ट के साथ बीती। उधर वह नककटी दूती अपने घर जाकर चिन्ता करने लगी कि 'अब इस समय क्या करना चाहिए? किस तरह इस बड़े छिद्र (दूषण, ऐब) को छिपाना चाहिए?'

अथ तस्या एवं विचिन्तयन्त्या भर्ता कार्यवशाद्राजकुले पर्युषितः प्रत्यूषे च स्वगृहमभ्युपेत्य द्वारदेशस्थो विविधपौरकृत्योत्सुकतया तामाह—भद्रे! शीघ्रमानीयतां क्षुरभाण्डं येन क्षौरकर्मकरणाय गच्छामि।

ज्योंही वह इस प्रकार का विचार कर रही थी कि उसका पति, जो किसी कार्यवश राजकुल में गया हुआ था, वह उषा काल में अपने घर आकर दरवाजे पर खड़ा हुआ, अनेक नगरवासियों के (क्षौर) कृत्य की उत्सुकता के कारण उससे कहने लगा—'हे भद्रे (कल्याणि)! जल्दी उस्तरे की पेटी ला; जिससे हजामत बनाने के लिए मैं जाऊँ।'

साऽपि छिन्ननासिका गृहमध्यस्थितैव कार्यकरणापेक्षया क्षुरभाण्डात् क्षुरमेकं समाकृष्य तस्याभिमुखं प्रेषयामास। नापितोऽप्युत्सुकतया तमेकं क्षुरमवलोक्य कोपाविष्टः सन् तदभिमुखमेव तं क्षुरं प्राहिणोत्।

उस नककटी ने भी घर के भीतर ही से कार्य-बाहुल्य की व्यग्रता प्रकट करती हुई, उस्तरे आदि सामान की पेटी में से, केवल एक उस्तरा निकाल कर, उसके सामने फेंक दिया। नाई ने भी, हड़बड़ी के कारण केवल उस एक छुरे को ही देखकर, कुपित होकर, उसकी ओर उसे फेंक दिया।

एतस्मिन्नन्तरे सा दुष्टा ऊर्ध्वबाहू विधाय फूत्कर्तुमना गृहान्निश्चक्राम। आह च-'अहो! पापेनानेन मम सदाचारवर्तिन्याः पश्यत नासिकाच्छेदो विहितः। तत्परित्रायतां परित्रायताम्।'

इस बीच वह दुष्टा अपने हाथों को ऊपर उठाकर, निश्वास लेती हुई घर के बाहर निकल पड़ी। और कहने लगी—'अरे! देखो तो इस पापी ने मुझ जैसी सच्चरित्रवती की, नाक काट ली है। इसलिए बचाओ! बचाओ।'

अत्रान्तरे राजपुरुषाः समभ्येत्य तं नापितं लगुडप्रहारैर्जर्जरीकृत्य दृढबन्धनैर्बद्ध्वा तया छिन्ननासिकया सह धर्माधिकरणस्थानं नीत्वा सभ्यानूचुः--'शृण्वन्तु भवन्तः सभासदः! अनेन नापितेनाऽपराधं विना स्त्रीरत्नमेतद्व्यङ्गितम्। तदस्य यद्युज्यते तत् क्रियताम्।'

तदनन्तर राजपुरुषों (सिपाहियों) ने, आकर उस नाई को डण्डों के प्रहार से जर्जरित कर, मजबूत बन्धन में बाँधकर, उस नककटी के साथ, न्यायाधीश के स्थान पर (अदालत में) ले जाकर, सभ्यों (मेम्बरों) से कहा--'हे सभासदो (मेम्बरो)! आप लोग सुनिए। इस नापित ने, बिना अपराध के, इस स्त्रीरत्न को विकलांग कर दिया है। अतः जो उचित न्याय हो सो कीजिए।'

इत्यभिहिते सभ्या ऊचुः—'रे नापित! किमर्थं त्वया भार्या व्यङ्गिता? किमनया परपुरुषोऽभिलषितः? उतस्वित् प्राणद्रोहः कृतः? किंवा चौर्यकर्माचरितम्? तत् कथ्यतामस्या अपराधः।' नापितोऽपि प्रहारपीडिततनुर्वक्तुं न शशाक। अथ तं तूष्णीभूतं दृष्ट्वा पुनः सभ्या ऊचुः—'अहो! सत्यमेतद्राजपुरुषाणां वचः। पापात्माऽयम्। अनेनेयं निर्दोषा वराको दूषिता। उक्तं च—

इतना कहने पर, सभ्यों ने कहा—'अरे नाई! तू ने किसलिए अपनी स्त्री का अङ्ग छिन्न-भिन्न कर दिया? क्या इसने परपुरुष की अभिलाषा की? अथवा प्राण-नाश की चेष्टा की? किंवा चोरी की? इसका अपराध कह।' नाई का मार के कारण, शरीर दर्द कर रहा था अतः वह कुछ कह न सका। तब उसे मौन ग्रहण किये देख कर फिर सभ्यों ने कहा—'अरे! राजपुरुषों (सिपाहियों) की बात ठीक है। यह पापी है। इसने इस दोषरहित बिचारी को दूषित किया है।' कहा है—

> भिन्नस्वरमुखवर्णः शङ्कितदृष्टिः समुत्पतिततेजाः।
> भवति हि पापं कृत्वा स्वकर्मसन्त्रासितः पुरुषः ॥२१०॥

कण्ठ स्वर का बदलजाना और मुँह का उतर जाना, शङ्कायुक्त दृष्टि, तेज (मुख की कान्ति) रहित होना—ये सब बातें पाप (चोरी, खून आदि) करने के बाद अपने कुकर्मों से सन्त्रस्त हुए पुरुषों में पायी जाती हैं ॥२१०॥

तथा च—

और भी—

आयाति स्खलितैः पादैर्मुखवैवर्ण्यसंयुतः।
ललाटस्वेदभाग्भूरि गद्गदं भाषते वचः ॥२११॥

डगमग पाँवों से चलता है, चेहरे का रङ्ग फीका पड़ जाता है, ललाट पर पसीना आ जाता है, और बोलने में अव्यक्त एवं अस्फुट शब्द करता है ॥२११॥

अधोदृष्टिर्भवेत् कृत्वा पापं प्राप्तः सभां नरः।
तस्माद्यत्नात् परिज्ञेयश्चिह्नैरेतैर्विचक्षणैः ॥२१२॥

यदि कोई पुरुष पाप करके सभा में (कचहरी में) आता है, तो नीची नज़र हो जाती है, अतः विचक्षण (निपुण पुरुषों) को चाहिए कि यत्नपूर्वक इन चिह्नों का परिज्ञान करें ॥२१२॥

अन्यच्च—

और भी—

प्रसन्नवदनो हृष्टः स्पष्टवाक्यः सरोषदृक्।
सभायां वक्ति सामर्षं सावष्टम्भो नरः शुचिः ॥२१३॥

लेकिन जो निष्पाप पुरुष होता है वह सभा (कचहरी) में प्रसन्नमुख, हर्षसंयुत, स्पष्ट वाक्य कहनेवाला, रोषयुक्त दृष्टिवाला और धैर्यवान् होता है ॥२१३॥

तदेष दुष्टचरित्रलक्षणो दृश्यते। स्त्रीधर्षणाद्वध्य इति। तच्छूलेऽयमारोप्यताम्' इति। अथ वध्यस्थाने नीयमानं तमवलोक्य देवशर्मा तान् धर्माधिकृतान् गत्वा प्रोवाच—

अतः लक्षण से यह दुराचारी मालूम होता है। स्त्री के अपमानित करने के कारण यह वध करने के योग्य है। इसलिए इसे शूली पर चढ़ा दो। तब वध्यभूमि को लिए जाते हुए उसे देखकर देवशर्मा ने, उन धर्माधिकारियों (न्यायाधीशों) के पास जाकर, कहा—

'भो भोः! अन्यायेनैष वराको वध्यते। नापितः साधुसमाचार एषः। तच्छ्रूयतां मे वाक्यम्—'जम्बूको हुडुयुद्धेन' इति।

'अरे! भाई! अन्याय से यह विचारा मारा जा रहा है। यह नाई साधु के

समान आचरण वाला (निर्दोष) है। अतः मेरी बात सुनो। 'जम्बुक हु युद्ध द्वारा' आदि।

अथ ते सभ्या ऊचुः—'भो भगवन्! कथमेतत्?' ततो देवश तेषां त्रयाणामपि वृत्तान्तं विस्तरेणाऽकथयत्। तदाकर्ण्य सुविस्मितम सस्ते नापितं विमोच्य मिथः प्रोचुः—'अहो!

तब उन सभ्यों ने कहा—'भगवन्! उसे कहिये, यह कौन-सी बात है तदनन्तर देवशर्मा ने उन तीनों की कथा विस्तार पूर्वक कही। उसे सुन आश्चर्य चकित हो उन लोगों ने, नाई को छुड़वाकर, परस्पर कहना आर किया कि 'अहो!

अवध्यो ब्राह्मणो बालः स्त्री तपस्वी च रोगभाक्।
विहिता व्यङ्गिता तेषामपराधे महत्यपि ॥२१४॥

ब्राह्मण, बालक, स्त्री, तपस्वी, और रोगी—ये अवध्य हैं। इनके गु अपराध करने पर भी विकलाङ्ग (अङ्गभङ्ग) करना ही धर्मशास्त्रविहित है ॥२१

तदस्या नासिकाच्छेदः स्वकर्मणा हि संवृत्तः। ततो राजनिग्र कर्णच्छेदः कार्यः। तथाऽनुष्ठिते देवशर्माऽपि वित्तनाशसमुद्भूतशोकर पुनरपि स्वकीयं मठायतनं जगाम। अतोऽहं ब्रवीमि—'जम्बू हुडुयुद्धेन' इति।

तो इसका नासिका छेदन तो अपनी करनी से हो गया है। अब राज तो है कर्णच्छेदन करना। इस तरह होने (अर्थात् कान काट जाने) बाद देवशर्मा भी धन के नाश हो जाने पर उत्पन्न हुए शोक से हीन हो फिर अपने मठस्थान में गया। अतः मैं कहता हूँ 'जम्बूक हुडु द्वारा......' आदि।

करटक आह—'एवंविधे व्यतिकरे किं कर्तव्यमावयोः?' दमन ऽब्रवीत्—'एवंविधेऽपि समये मम बुद्धिस्फुरणं भविष्यति, येन सञ्जी प्रभोर्विश्लेषयिष्यामि।

करटक ने कहा—'इस तरह की दशा (व्यसन) सम्प्राप्ति होने पर

दोनों को क्या करना चाहिये ?' दमनक ने कहा—'ऐसे समय में भी मेरी बुद्धि काम करेगी जिससे मैं सञ्जीवक को स्वामी से अलग कर दूँगा।

उक्तं च यतः—

क्योंकि कहा भी है—

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतः सृष्टा हन्ति राष्ट्रं सनायकम् ॥२१५॥

धानुष्क (तीरन्दाज) द्वारा छोड़ा हुआ बाण (इषु) चाहे एक को मारे अथवा एक को भी न मार सके; किन्तु नीतिज्ञ बुद्धिमानों की बुद्धि से किया हुआ कार्य भूपति सहित राज्य को नष्ट कर सकता है ॥२१५॥

तदहं मायाप्रपञ्चेन गुप्तमाश्रित्य तं स्फोटयिष्यामि।' करटक आह—'भद्र ! यदि कथमपि तव मायाप्रवेशं पिङ्गलको ज्ञास्यति, सञ्जीवको वा तदा नूनं विघात एव।'

'अतः मैं मायाप्रपञ्च द्वारा, गुप्त षड्यन्त्र रच कर, फूट कराऊँगा।' करटक ने कहा—'भद्र ! यदि किसी तरह तुम्हारे कपटाचरण की बात को पिङ्गलक जान जाय अथवा सञ्जीवक ही (जान जाय) तो अवश्य ही व्याघात (विनाश) होगा।'

सोऽब्रवीत्—'तात ! नैवं वद। गूढबुद्धिभिरापत्काले विधुरेऽपि दैवे बुद्धिः प्रयोक्तव्या। नोद्यमस्त्याज्यः। कदाचिद्घुणाक्षरन्यायेन बुद्धेः साम्राज्यं भवति। उक्तं च—

उसने कहा—'तात ! इस प्रकार न कहिए। कूट बुद्धि द्वारा आपत्ति समय में दैव के प्रतिकूल होने पर भी पण्डितों को चाहिए कि अपनी बुद्धि का प्रयोग करें। उद्योग को छोड़ देना उचित नहीं है। कदाचित् घुणाक्षर न्याय से बुद्धि द्वारा सार्वभौमत्व प्राप्त हो जाय।

उक्तं च—

कहा भी है—

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि दैवे धैर्यात् कदाचित् स्थितिमाप्नुयात् सः।
याते समुद्रेऽपि हि पोतभङ्गे सांयात्रिको वाञ्छति कर्म एव ॥२१६॥

भाग्य के प्रतिकूल होने पर धैर्य नहीं छोड़ देना चाहिए। क्योंकि ... से, कदाचित्, उसे पूर्ववत् स्थिति प्राप्त हो जाय। जैसे समुद्र में जहाज डूबने (इतना खतरा उठाने पर) भी वणिक् लोग (उद्योग) व्यापार कर्म करने की इच्छा करते ही हैं (समुद्री व्यापार को छोड़ नहीं देते) ॥२१६॥

तथा च—

और भी—

उद्योगिनं सततमत्र समेति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः? ॥२१७॥

उद्योग में निरत मनुष्य को इस लोक में निरन्तर लक्ष्मी प्राप्त होती है। 'भाग्य भाग्य' कायर कहा करते हैं। भाग्य को ठुकरा कर, अपने सामर्थ्य के अनुसार पुरुषार्थ करो। प्रयत्न करने पर भी यदि कार्य-सिद्धि न हो तो अपना क्या दोष है? ॥ २१७ ॥

तदेवं ज्ञात्वा सुगूढबुद्धिप्रभावेण यथा तौ द्वावपि न ज्ञास्यतः, मिथो वियोजयिष्यामि।

अतः इस प्रकार जानकर, अपनी निगूढ़ बुद्धि के प्रभाव से, जिस तरह दोनों न जानने पावें, उस तरह परस्पर उनमें वियोग करा दूँगा।

उक्तं च—

कहा भी है—

सुप्रयुक्तस्य दम्भस्य ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति।
कौलिको विष्णुरूपेण राजकन्यां निषेवते' ॥२१८॥

अच्छी तरह से छिपाए हुए पाखण्ड के अन्त को ब्रह्मा भी नहीं मालूम कर सकते। जिस तरह एक कौलिक, विष्णु के रूप में, राजकन्या से रमण करता था ॥ २१८ ॥'

करटक आह—'कथमेतत्?' सोऽब्रवीत्—

करटक ने कहा—यह कैसी कथा है? उसने कहा—

(कथा ५)

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कौलिक-रथकारौ मित्रे प्रतिवसतः स्म। तत्र च तौ बाल्यात्प्रभृति सहचारिणौ परस्परमतीव स्नेहपरौ सदैकस्थानविहारिणौ कालं नयतः।

किसी स्थान पर कौलिक और गाड़ी बनानेवाला—ये दोनों मित्र रहा करते थे। वे बाल्यावस्था ही से एक साथ रहनेवाले थे। परस्पर अत्यन्त प्रेम करते थे और सदा एक स्थान पर विहार कर समय व्यतीत करते थे।

अथ कदाचित् तत्राधिष्ठाने कस्मिंश्चिद्देवायतने यात्रामहोत्सवः संवृत्तः। तत्र च नटनर्तकचारणसङ्कुले नानादेशागतजनावृते तौ सहचरौ भ्रमन्तौ काञ्चिद्राजकन्यां करेणुकाऽऽरूढां सर्वलक्षणसनाथां कञ्चुकिवर्षधरपरिवारितां देवतादर्शनार्थं समायातां दृष्टवन्तौ।

किसी समय उसी स्थान पर किसी देवमन्दिर में यात्रा का महोत्सव (मेला) हुआ। वहाँ नट, नर्तक (नाचनेवाले), चारण से आवृत, भिन्न-भिन्न देशों से आए हुए मनुष्यों से भरे हुए उस मेले में उन दोनों मित्रों ने भ्रमण करते हुए किसी राजकन्या को देखा—जो हस्ती पर चढ़ी हुई, सर्व लक्षणों से युक्त, कञ्चुकी वर्षवर (अन्तःपुर की रक्षा करने वाले नपुंसक, हिंजड़े) आदि परिचरों के सहित देवता दर्शन के लिए आई हुई थी।

अथाऽसौ कौलिकस्तां दृष्ट्वा विषार्दितः इव दुष्टग्रहगृहीत इव कामशरैर्हन्यमानः सहसा भूतले निपपात। अथ तं तदवस्थमवलोक्य रथकारस्तद्दुःखदुःखितः आप्तपुरुषैस्तं समुत्क्षिप्य स्वगृहमानाययत्।

बाद वह कौलिक उस (राजकन्या) को देखकर, विष से पीड़ित हुए की भाँति या दुष्ट ग्रह से पकड़े हुए के तुल्य, कामदेव के बाणों द्वारा मारा हुआ एकाएक पृथ्वीतल पर गिर पड़ा। तब उसकी उस अवस्था को देखकर रथकार उसके दुःख से दुःखित हो, आप्त (अपने विश्वासी) पुरुषों द्वारा उसे उठवाकर, अपने घर ले आया।

तत्र च विविधैः शीतोपचारैश्चिकित्सकोपदिष्टैर्मन्त्रवादिभिरुपचर्यमाणश्चिरात् कथञ्चित् सचेतनो बभूव। ततो रथकारेण पृष्टः—'भो मित्र! किमेवं त्वमकस्माद्विचेतनः सञ्जातः? तत् कथ्यतामात्मस्वरूपम्!'

वहाँ नाना प्रकार की शीत (बर्फ, चन्दन, खस, आदि) चिकित्सा। चिकित्सक के द्वारा आदेश की हुई दवा, और मन्त्र तन्त्र आदि के उपचार के करने वाले ओझा के द्वारा कुछ देर के बाद उसे कुछ होश आया। तब रथकार ने पूछा- 'हे मित्र! क्या कारण है, कि तुम एकाएक चेतनारहित होगए? सो मुझे बात कहो।'

स आह—'वयस्य! यद्येवं तच्छृणु मे रहस्यं येन सर्वामात्मवेदनां ते वदामि। यदि त्वं मां सुहृदं मन्यसे, ततः काष्ठप्रदानेन प्रसादः क्रियताम्। क्षम्यतां यद्वा किञ्चित् प्रणयातिरेकादयुक्तं तव मयानुष्ठितम्।'

उसने कहा—'हे मित्र! यदि इस तरह आप पूछते हैं तो मेरी रहस्य (गुप्त) बात सुनिए जिससे मैं सब अपनी वेदना आपसे कहता हूँ। यदि आप मुझे अपना सुहृद मानते हों तो चिता निर्माण कर मेरा अनुग्रह कीजिए। और प्रणय के कारण जो कुछ मैंने अनुचित बात कही हो तो उसे क्षमा कर दीजिए।'

सोऽपि तदाकर्ण्य बाष्पपिहितनयनः सगद्गदमुवाच—'वयस्य! यत्किञ्चिद्दुःखकारणं तद्वद। येन प्रतीकारः क्रियते यदि शक्यते कर्तुम्।'

उसने भी, उसे सुनकर, आँखों में आँसू भर कर, गद्गद कण्ठ से, कहा- 'मित्र! जो कुछ दुःख का कारण हो, उसे कहिए, जिससे यदि हो सके तो उसका प्रतीकार (इलाज) भी कर दिया जावे।

उक्तं च—

कहा है—

> औषधार्थसुमन्त्राणां बुद्धेश्चैव महात्मनाम्।
> असाध्यं नास्ति लोकेऽत्र यद्ब्रह्माण्डस्य मध्यगम्॥२१९॥

इस लोक में अथवा ब्रह्माण्ड भर में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो औषध, धन, सुन्दर सलाह (या अच्छे मन्त्र तन्त्र) और महात्मा पुरुषों की बुद्धि के आगे असाध्य हो॥२१९॥

तदेषां चतुर्णां यदि साध्यं भविष्यति तदाऽहं साधयिष्यामि।' कौलिक आह—'वयस्य! एतेषामन्येषामपि सहस्राणामुपायानामसाध्यं तन्मे दुःखम्। तस्मान्मम मरणे मा कालक्षेपं कुरु।'

'इसलिए इन चारों से यदि साध्य होगा तो मैं पूर्ण करूँगा।' कौलिक ने कहा—'मित्र! इन (चारों) से अथवा दूसरे हजारों उपायों से भी मेरा दुःख असाध्य है। इसलिए मेरे मरने में वृथा समय न विताओ।'

रथकार आह—'भो मित्र! यद्यप्यसाध्यं तथापि निवेदय, येनाऽहमपि तदसाध्यं मत्वा त्वया सह वह्नौ प्रविशामि। न क्षणमपि त्वद्वियोगं सहिष्ये। एष मे निश्चयः।

रथकार ने कहा—'मित्र! यद्यपि असाध्य है, तो भी निवेदन करो, जिससे मैं भी उसे असाध्य समझ कर तुम्हारे साथ अग्नि में प्रवेश करूँ क्योंकि क्षण भर भी मैं तुम्हारा वियोग नहीं सह सकूँगा। ऐसा मेरा निश्चय है।'

कौलिक आह—'वयस्य! याऽसौ राजकन्या करेणुकाऽऽरूढा तत्रोत्सवे दृष्टा, तस्या दर्शनानन्तरं मकरध्वजेन ममेयमवस्था विहिता। तन्न शक्नोमि तद्वेदनां सोढुम्।

कौलिक ने कहा—'सखे! जो उस उत्सव में वह राजकुमारी हस्ती पर आरूढ हुई मैंने देखी थी सो उसके दर्शन के बाद ही मकरध्वज (कामदेव) ने मेरी यह दशा कर दी। सो उस काम-वेदना को मैं सह नहीं सकता।

तथा चोक्तम्—

ऐसा कहा भी है—

मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि कुङ्कुमार्द्रे
तस्याः पयोधरयुगे रतखेदखिन्नः।
वक्षो निधाय भुजपञ्जरमध्यवर्ती
स्वप्स्ये कदा क्षणमवाप्य तदीयसङ्गम् ॥२२०॥

मत्त हाथी के कुम्भ (हाथी के मस्तक के दो मांस के गोले) के तुल्य विस्तारवाले, कुङ्कुम से आर्द्र, उसके दोनों स्तनों पर सम्भोग के परिश्रम के कारण खिन्न हुआ मैं, उसकी दोनों भुजाओं के बीच अपने वक्षःस्थल को रख कर, क्षण भर के लिए भी उसके सङ्ग को, प्राप्तकर कब सोऊँगा? ॥२२०॥

तथा च—

और भी—

रागी बिम्बाधरोऽसौ स्तनकलशयुतं यौवनाल्लढगर्वं
नीचा नाभिः प्रकृत्या कुटिलकमलकं स्वल्पकं चापि मध्यम् ।
कुर्वन्त्वेतानि नाम प्रसभमिह मनश्चिन्तितान्याशु खेदं
यन्मां तस्याः कपोलौ दहत इति मुहुः स्वच्छकौ तन्न युक्तम्' ॥२२॥

बिम्ब फल के समान स्वयं रागयुक्त उसके लाल-लाल अधर, कलश के सम दोनों कुच, तथा युवावस्था में प्राप्त होने से उसका गर्व (मस्ती), अति गम्भीर नाभि, स्वाभाविक कुटिल केश, और अत्यन्त पतली (कृश) कटि आदि— मन में स्मरण करने से ही खेद उत्पन्न करते हैं सो उचित ही है किन्तु उसके दोनों निर्मल कपोल जो मुझे बारम्बार दग्ध कर रहे हैं वह ठीक नहीं है' ॥२२॥

रथकारोऽप्येवं सकामं तद्वचनमाकर्ण्य सस्मितमिदमाह—'वयस्य ! यद्येवं तर्हि दिष्ट्या सिद्धं नः प्रयोजनम् । तदद्यैव तया सह समागमः क्रियताम्' इति ।

रथकार भी इस प्रकार उसके कामपूर्ण वाक्यों को सुनकर मुस्कराते हुए यह बोला—'मित्र ! यदि ऐसी बात है तो सौभाग्य से हमारा प्रयोजन सिद्ध हुआ । लो, आज ही उसके साथ समागम करो ।'

कौलिक आह—'वयस्य ! यत्र कन्यान्तःपुरे वायुं मुक्त्वा नाऽन्यस्य प्रवेशोऽस्ति तत्र रक्षापुरुषाधिष्ठिते कथं मम तया सह समागमः ? तत् किं मामसत्यवचनेन विडम्बयसि ?'

कौलिक ने कहा—'मित्र ! जिस कन्यान्तःपुर (जनानखाने) में, पवन को छोड़कर, किसी अन्य का प्रवेश नहीं है वहाँ पहरा देनेवालों के होते हुए किस प्रकार मेरा उसके साथ समागम हो सकता है ? तो मुझे असत्य वचन से क्यों फुसला रहे हो ?'

रथकार आह—'मित्र ! पश्य मे बुद्धिबलम् ।' एवमभिधाय तत्क्षणात् कीलसञ्चारिणं वैनतेयं बाहुयुगलं वायुजवृक्षदारुणा शङ्खचक्रगदापद्मान्वितं सकिरीटकौस्तुभमघटयत् ।

रथकार ने कहा—'मित्र ! मेरे बुद्धि बल को देखो ।' ऐसा कहकर उसी क्षण वायुज वृक्ष के काठ का बना, कील चलाने से उड़नेवाले गरुड को, दो बाहु

शंख-चक्र गदा-पद्म से समन्वित, किरीट और कौस्तुभमणि सहित उसने निर्माण किया।

ततस्तस्मिन् कौलिकं समारोप्य विष्णुचिह्नितं कृत्वा कीलसञ्चरण-विज्ञानं च दर्शयित्वा प्रोवाच—'वयस्य! अनेन विष्णुरूपेण गत्वा कन्यान्तःपुरे निशीथे तां राजकन्यामेकाकिनीं सप्तभूमिकप्रासादप्रान्तगतां मुग्धस्वभावां त्वां वासुदेवं मन्यमानां स्वकीयमिथ्यावक्रोक्तिभी रञ्जयित्वा वात्स्यायनोक्तविधिना भज।'

तदनन्तर कौलिक को उसपर चढ़ाकर विष्णु के चिह्नों को बना कर, कील चलाने का शिल्पज्ञान दिखा (बता) कर, उसने कहा—'मित्र! इस विष्णुरूप द्वारा कन्यान्तःपुर में जाकर रात्रि में उस राजकन्या के साथ, जो अकेली महल में सातवें खण्ड पर स्थित है, मुग्ध (अल्हड़) स्वभाववाली है, तुम्हें वासुदेव (विष्णु) माननेवाली होगी, अपनी मिथ्या चाटूक्तियों से उसको प्रसन्न कर, वात्स्यायन मुनि द्वारा रचित कामसूत्र के विधान से भोग करो।'

कौलिकोऽपि तदाकर्ण्य तथारूपस्तत्र गत्वा तामाह—'राजपुत्रि! सुप्ता किं वा जागर्षि? अहं तव कृते समुद्रात् सानुरागो लक्ष्मीं विहायैवागतः। तत् क्रियतां मया सह समागमः' इति।

कौलिक ने, उसे सुनकर, उस रूप में वहाँ जाकर, उस (राजकन्या) से कहा—'राजपुत्रि! तुम सोती हो अथवा जागती हो? मैं तुम्हारे लिए क्षीर-सागर से लक्ष्मी को छोड़ करके, अनुरागपूर्वक यहाँ आया हूँ। इसलिए मेरे साथ समागम करो।'

साऽपि गरुडारूढं चतुर्भुजं सायुधं कौस्तुभोपेतमवलोक्य सविस्मया शयनादुत्थाय प्रोवाच—'भगवन्! अहं मानुषी कीटिकाऽशुचिः। भगवांस्त्रैलोक्यपावनो वन्दनीयश्च। तत् कथमेतद्युज्यते?'

उसने चतुर्भुज, आयुधसहित और कौस्तुभमणि संयुक्त उसे गरुड़ पर चढ़े हुए, देखकर, विस्मित हो, सोती हुई अवस्था से उठकर, कहा—"मैं कीड़े के समान अपवित्र एक मानुषी हूँ। और भगवान् तीनों लोक को पवित्र करनेवाले

एवं तीनों लोक के मनुष्यों द्वारा वन्दनीय हैं। सो यह सम्बन्ध किस प्रकार उचित हो सकता है ?'

कौलिक आह—'सुभगे ! सत्यमभिहितं भवत्या। परं किं तु राधा नाम्नी मे भार्या गोपकुलप्रसूता प्रथममासीत्, सा त्वमत्राऽवतीर्णा। तेनाऽहमत्राऽऽयातः।' इत्युक्ता सा प्राह—'भगवन् ! यद्येवं तन्मे तातं प्रार्थय। सोऽप्यविकल्पं मां तुभ्यं प्रयच्छति।'

कौलिक ने कहा—'सुलक्षणे ! तू ठीक कह रही हो, परन्तु राधा नाम की मेरी पत्नी जो पूर्व में गोपकुल में उत्पन्न हुई थी, वही इस समय तुमने अवतार लिया है। इसी कारण मैं यहाँ आया हूँ।' ऐसा कही जाने पर उसने कहा—'भगवन् ! यदि यह बात है तो मेरे पिता से प्रार्थना कीजिए वे तुम्हें निस्सन्देह मुझे दे देंगे।'

कौलिक आह—'सुभगे ! नाहं दर्शनपथं मानुषाणां गच्छामि। किं पुनरालापकरणम् ? त्वं गान्धर्वेण विवाहेनाऽऽत्मानं प्रयच्छ। नो चेच्छापं दत्वा सान्वयं ते पितरं भस्मसात् करिष्यामि' इति।

कौलिक ने कहा—'सुन्दरी ! मैं मनुष्यों के दृष्टि-गोचर नहीं होता। फिर बातचीत करने की बात तो दूर रही। तुम गान्धर्व विवाह (जो कन्या एवं वर की स्वेच्छा से होता है) की रीति से मुझे आत्म-समर्पण करो अन्यथा शाप देकर तुम्हारे पिता को वंश सहित भस्म कर दूँगा।'

एवमभिधाय गरुडादवतीर्य सव्ये पाणौ गृहीत्वा तां सभयां सलज्जां वेपमानां शय्यायामनयत्। ततश्च रात्रिशेषं यावद्वात्स्यायनोक्तविधिना निषेव्य प्रत्यूषे स्वगृहमलक्षितो जगाम। एवं तस्य तां नित्यं सेवमानस्य कालो याति।

ऐसा कहकर गरुड़ से उतरकर, उस भयभीता, लज्जावती, काँपती हुई को दहिने हाथ से पकड़कर, शय्या पर ले आया। रात भर वात्स्यायनविहित विधि से रमण कर, उषःकाल में, अपने घर को अलक्षित होकर चला गया। इस प्रकार उसके साथ नित्य रमण करते हुए उस कौलिक का समय बीतने लगा।

अथ कदाचित् कञ्चुकिनस्तस्या अधरोष्ठप्रवालखण्डनं दृष्ट्वा मिथः प्रोचुः—'अहो! पश्यत अस्या राजकन्यायाः पुरुषोपभुक्ताया इव शरीरावयवा विभाव्यन्ते। तत्कथमयं सुरक्षितेऽप्यस्मिन्गृह एवंविधो व्यवहारः। तद्राज्ञे निवेदयामः।'

कदाचित् † कञ्चुकी लोग उसके अधरोष्ठ प्रवाल (मूँगे की भाँति लाल अधर) को क्षत देखकर एकान्त में परस्पर कहने लगे—'ओहो! देखो तो, इस राजकन्या के शरीर के प्रत्येक अवयव, मनुष्य से उपभुक्त के समान, मालूम पड़ते हैं। सो किस प्रकार इस घर में अच्छी तरह पहरा होने पर भी, इस तरह की कारवाईं हुईं। अतः राजा से निवेदन कर देना चाहिए।'

एवं निश्चित्य सर्वे समेत्य राजानं प्रोचुः—'देव! वयं न विद्मः। परं सुरक्षितेऽपि कन्यान्तःपुरे कश्चित् प्रविशति। तद्देवः प्रमाणम्' इति। तच्छ्रुत्वा राजाऽतीव व्याकुलितचित्तो व्यचिन्तयत्—

ऐसा निश्चय कर वे सब इकट्ठा होकर राजा से बोले—महाराज! हम नहीं जानते, किन्तु कन्यान्तःपुर के अच्छी तरह सुरक्षित होने पर भी कोई उसमें प्रवेश करता है। सो इसमें देव ही प्रमाण हैं (अर्थात् हुजूर ही मालिक हैं चाहें जैसा करें)। उसे सुनकर राजा उद्विग्न चित्त से सोचने लगा—

'पुत्रीति जाता महतीह चिन्ता
कस्मै प्रदेयेति महान् वितर्कः।
दत्त्वा सुखं प्राप्स्यति वा न वेति
कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम् ॥२२२॥

इस संसार में 'पुत्री उत्पन्न हुई' बस इतने ही से बड़ी भारी चिन्ता पैदा हो जाती है। 'किसे देनी चाहिए' इस प्रकार की समस्या मन में उत्पन्न होती है।

---

† अन्तःपुरचरो राज्ञां वृद्धो विप्रो गुणान्वितः।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥
अथवा—ये विप्राः सत्यसम्पन्नाः कामदोषविवर्जिताः।
ज्ञानविज्ञानकुशलाः कञ्चुकीयाश्च ते स्मृताः ॥'

'कन्यादान देने पर (पति से) सुख पावेगी अथवा नहीं' ऐसा मन में विचार उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः कन्या का पिता होना ही कष्टदायक है ॥२२२॥

नद्यश्च नार्यश्च सदृक्प्रभावा-
स्तुल्यानि कूलानि कुलानि तासाम् ।
तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति
नद्यो हि कूलानि कुलानि नार्यः ॥२२३॥

नदियों और नारियों का प्रभाव एक ही तरह का होता है। उन (नदियों) के दोनों कूल (किनारे) उन (स्त्रियों) के दोनों कुल (मातृकुल और पितृकुल) के तुल्य हैं क्योंकि नदियाँ जल से अपने दोनों किनारों को, और नारियाँ दोष से अपने दोनों कुलों को पतित करती हैं ॥२२३॥

तथा च।

और भी—

जननी मनो हरति जातवती
परिवर्धते सह शुचा सुहृदाम् ।
परसात्कृतापि कुरुते मलिनं
दुरतिक्रमा दुहितरो विपदः' ॥२२४॥

कन्या उत्पन्न होते ही माता के मन को हरती (चिन्तित करती) है, और सुहृदों के शोक के साथ परिवर्द्धित होती है और पति द्वारा पराधीन रखने पर भी दोनों कुलों को मलिन (दूषित) करती है; अतएव कन्या रूपी विपत्ति के पार जाना बड़ा कठिन है ॥२२४॥'

एवं बहुविधं विचिन्त्य देवीं रहस्थां प्रोवाच—'देवि ! ज्ञायतां किमेते कञ्चुकिनो वदन्ति। तस्य कृतान्तः कुपितो येनैतदेवं क्रियते ?'

इस प्रकार बहुत तरह से विचार कर, एकान्त में बैठी हुई अपनी रानी से कहा—'रानी ! मालूम तो करो कि कञ्चुकी लोग जो कहते हैं वह ठीक है। जो इस प्रकार कार्य करता है उसके सिर पर मृत्यु नाच रही है।'

देव्यपि तदाकर्ण्य व्याकुलीभूता सत्वरं कन्यान्तःपुरे गत्वा ताम् खण्डिताधरां नखविलिखितशरीरावयवां दुहितरमपश्यत्। आह च-

'आः पापे कुलकलङ्ककारिणि ! किमेवं शीलखण्डं कृतम् ? कोऽयं कृतान्तावलोकितस्त्वत्सकाशमभ्येति ? तत्कथ्यतां ममाग्रे सत्यम् ।'

रानी ने भी यह बात सुनकर व्याकुल होकर, शीघ्र ही कन्या के अन्तःपुर में जाकर, उस क्षत अधरवाली, शरीर के प्रत्येक अवयवों में नाखून के चिह्न से चिह्नितवाली, अपनी कन्या देखी और कहने लगी—'अरी पापिनी ! कुल में धब्बा लगानेवाली ! तूने इस तरह अपना आचरण क्यों भ्रष्ट कर दिया ? काल द्वारा देखा गया कौन मनुष्य (अर्थात्–किसके सिर पर मृत्यु नाच रही है जो) तेरे समीप आता है ? सो मुझसे सत्य २ कह ।'

इति कोपाटोपविशङ्कटं वदन्त्यां मातरि राजपुत्री भयलज्जानताऽऽननं प्रोवाच—'अम्ब ! साक्षान्नारायणः प्रत्यहं गरुडारूढो निशि समायाति । चेदसत्यं मम वाक्यम्, तत् स्वचक्षुषा विलोकयतु निगूढतरा निशीथे भगवन्तं रमाकान्तम् ।'

इस प्रकार कोप से अभिभूत, कठोर वचन कहनेवाली अपनी माता के प्रति, भय और लज्जा के कारण शिर नीचा किए हुए, राजकुमारी ने, कहा–'माता जी ! साक्षात् नारायण (लक्ष्मीपति) प्रतिदिन, गरुड़ पर चढ़कर, रात्रि में मेरे पास आते हैं । यदि मेरी बात असत्य मानती हो तो आकर घनी अँधियारी रात में भगवान् रमारमण (लक्ष्मी के साथ विहार करनेवाले) को देख लीजिए ।'

तच्छ्रुत्वा सापि प्रहसितवदना पुलकाङ्कितसर्वाङ्गी सत्वरं गत्वा राजानमूचे—'देव ! दिष्ट्या वर्धसे । नित्यमेव निशीथे भगवान् नारायणः कन्यकापार्श्वेऽभ्येति । तेन गान्धर्वविवाहेन सा विवाहिता । तदद्य त्वया मया च रात्रौ वातायनगताभ्यां निशीथे द्रष्टव्यः, यतो न स मानुषैः सहालापं करोति ।'

उसे सुनकर वह हँसते हुए मुखसे, सर्व अङ्ग में रोमावली खड़ी हो जाने के कारण, जल्दी से जाकर, राजा से बोली—'महाराज ! आपके बड़े भाग्य हैं क्योंकि नित्य रात्रि में भगवान् नारायण कन्या के समीप आते हैं । उन्होंने गान्धर्व-विवाह की रीति से उसके साथ विवाह भी कर लिया है । सो आज आप और मैं अर्द्ध

रात्रि में वातायन (गवाक्ष अर्थात् खिड़की के जङ्गले में) से छिपकर देखते हैं क्योंकि वे मनुष्यों के साथ प्रत्यक्ष वार्तालाप नहीं करते ।'

तच्छ्रुत्वा हर्षितस्य राज्ञस्तद्दिनं वर्षशतप्रायमिव कथञ्चिज्जगाम। ततस्तु रात्रौ निभृतो भूत्वा राज्ञीसहितो राजा वातायनस्थो गगनासक्तदृष्टिर्यावत् तिष्ठति, तावत् तस्मिन् समये गरुडारूढं तं शङ्खचक्रगदापद्महस्तं यथोक्तचिह्नाङ्कितं व्योम्नोऽवतरन्तं नारायणमपश्यत् ।

यह सुनकर हर्षित हुए उस राजा ने वह दिन, जो सौवर्ष के समान हो गया था, किसी तरह बिताया । तदनन्तर रात्रि में, छिपकर, रानी के सहित राजा खिड़की के जङ्गलों पर से बैठकर ज्योंही आकाश की ओर नजर गड़ाए (एकाग्र दृष्टि से बैठे हुए) थे कि त्योंही उसी समय गरुड़ पर चढ़े हुए उन शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण करनेवाले, पूर्वोक्त (शंख-चक्र-गदा-पद्म) चिह्नों से युक्त, उन्होंने नारायण को आकाश से उतरते हुए, देखा ।

ततः सुधापूरप्लावितमिवाऽऽत्मानं मन्यमानस्तामुवाच—'प्रिये ! नास्त्यन्यो धन्यतरो लोके मत्तस्त्वत्तश्च, यत्प्रसूतिं नारायणो भजते। तत्सिद्धाः सर्वेऽस्माकं मनोरथाः । अधुना जामातृप्रभावेण सकलामपि वसुमतीं वश्यां करिष्यामि ।'

तब अमृत के तरङ्गों में अपने को अवगाहित मानता हुआ राजा ने अपनी रानी से कहा—प्यारी ! इस संसार में मुझ से और तुझ से बढ़कर धन्य और कोई नहीं है, जिसकी कन्या के साथ नारायण रमण करते हैं । हमारे सब मनोरथ सफल हो गए । अब तो जामाता (जवाईं) के प्रभाव से सारी वसुन्धरा (पृथ्वी) को अपने वशीभूत कर लूँगा ।

एवं निश्चित्य सर्वैः सीमाधिपैः सह मर्यादाव्यतिक्रममकरोत् । ते च तं मर्यादाव्यतिक्रमेण वर्तमानमालोक्य सर्वे समेत्य तेन सह विग्रहं चक्रुः।

ऐसा निश्चय कर सीमाप्रान्त के सब राजाओं के साथ मर्यादा की सीमा का उल्लङ्घन करने लगा । उन लोगों ने, उसके मर्यादा के अतिक्रमण की अवस्था को (सन्धि भङ्ग कर आक्रमण करते) देखकर, सब ने एक साथ मिलकर, उसके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया (अर्थात् धावा बोल दिया) ।

अत्राऽन्तरे स राजा देवीमुखेन तां दुहितरमुवाच—'पुत्रि ! त्वयि दुहितरि वर्तमानायां, भगवति नारायणे च जामातरि स्थिते, तत्किमेवं युज्यते यत्सर्वे पार्थिवा मया सह विग्रहं कुर्वन्ति ? तत्सम्बोध्योऽद्य त्वया निजभर्ता, यथा मम शत्रून् व्यापादयति ।'

इसी बीच उस राजा ने रानी द्वारा उस कन्या के प्रति यह कहलवाया—'हे पुत्री ! तुम्हारी जैसी कन्या के और भगवान् नारायण जैसे जामाता होते हुए भी क्या यह उचित है, कि सब राजा मिलकर मेरे साथ विग्रह करें । सो आज तुम अपने पति को समझाना कि जिसमें वे मेरे शत्रु को मार डालें ।'

ततस्तया स कौलिको रात्रौ सविनयमभिहितः—'भगवन् ! त्वयि जामातरि स्थिते मम तातो यच्छत्रुभिः परिभूयते तन्न युक्तम् । तत्प्रसादं कृत्वा सर्वांस्ताञ्शत्रून् व्यापादय ।'

तब उसने कौलिक से, रात्रि में विनय पूर्वक कहा—'भगवन् ! आप सदृश जामाता होते हुए भी मेरे पिता की शत्रुओं द्वारा पराजय हो सो ठीक नहीं है । सो कृपाकर आप उन सभी शत्रुओं को मार डालिए ।'

कौलिक आह—'सुभगे ! कियन्मात्रास्त्वेते तव पितुः शत्रवः ? तद्विश्वस्ता भव । क्षणेनापि सुदर्शनचक्रेण सर्वांस्तिलशः खण्डयिष्यामि ।'

कौलिक ने कहा—'सुन्दरि ! ये सब तुम्हारे पिता के शत्रु कितनी मात्रा में हैं (अर्थात् अत्यन्त अल्प हैं) ? अतः विश्वास रखो, एक क्षण में सुदर्शन चक्र द्वारा, उन सबको तिल के समान खण्ड २ कर दूँगा ।'

अथ गच्छता कालेन सर्वदेशं शत्रुभिरुद्वास्य स राजा प्राकारशेषः कृतः । तथापि वासुदेवरूपधरं कौलिकमजानन् राजा नित्यमेव विशेषतः कर्पूरागुरुकस्तूरिकादिपरिमलविशेषान् नानाप्रकारवस्त्रपुष्पभक्ष्यपेयांश्च प्रेषयन् दुहितृमुखेन तमूचे—

कुछ काल में उस राजा के सब देश को, शत्रुओं ने, नष्ट-भ्रष्ट कर दिया केवल किला भर ही बच रहा । तो भी विष्णु भगवान् का वेश धारण करनेवाले कौलिक को न जानकर, राजा प्रतिदिन विशेष प्रकार से, कपूर, अगर चन्दन,

कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों को और अनेक प्रकार के वस्त्र, सुमन, † भक्ष्य पदार्थ (खाने को चीज) और पेय पदार्थों (पीनेवाली चीज दुग्ध आदि) भेजकर पुत्री द्वारा उसे कहलवाया—

'भगवन् ! प्रभाते नूनं स्थानभङ्गो भविष्यति । यतो यवसेन्धनक्षयः सञ्जातस्तथा सर्वोऽपि जनः प्रहारैर्जर्जरितदेहः संवृत्तो योद्धुमक्षमः प्रचुरो मृतश्च । तदेवं ज्ञात्वाऽत्र काले यदुचितं भवति तद्विधेयम्' इति ।

'भगवन् ! कल प्रातःकाल अवश्य ही स्थानभङ्ग (दुर्ग पर कब्जा) होगा; क्योंकि यवस (घास तृण) और इन्धन वगैरः की कमी हुई है । इसके अतिरिक्त सब सैनिकों की देह भी प्रहार (चोट) के कारण जर्जरित हो गयी है (अर्थात् घायल हो गए हैं) अतः वे युद्ध करने में असमर्थ हैं और अधिक संख्या में मर भी गए हैं । इन सब बातों को जान कर इस समय जैसा उचित है वैसा कीजिए ।'

तच्छ्रुत्वा कौलिकोऽप्यचिन्तयत्—'स्थानभङ्गे जाते ममाऽनया सह वियोगो भविष्यति । तस्माद्गरुडमारुह्य सायुधमात्मानमाकाशे दर्शयामि । कदाचिन्मां वासुदेवं मन्यमानास्ते साशङ्का राज्ञो योद्धृभिर्हन्यन्ते ।

इसे सुनकर कौलिक अपने मन में सोचने लगा—'स्थानभङ्ग होने पर मेरा इसके साथ वियोग हो जायगा । इसलिए गरुड़ पर चढ़कर आयुध (शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म) सहित अपने स्वरूप को आकाश में दिखलाऊँ । कदाचित् मुझे विष्णु भगवान् मानकर वे सभी भयभीत हो जाँय और राजा के योद्धागणों से मार डाले जायँ ।

उक्तं च—

कहा भी है—

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फणा ।

† भक्ष्य पदार्थ चार प्रकार के होते हैं—चर्व्य (जो चबा कर खाए जायँ), चोष्य (जो चूस कर खाए जायँ), लेह्य (जो चाट कर खायँ) और पेय (जो पान किए जायँ) ।

विषं भवतु मा भूयात् फणाटोपो भयङ्करः ॥२२५॥

विष रहित सर्प को भी बड़ा फन बढ़ाकर फुफुकारी मारनी चाहिए; क्योंकि विष हो अथवा न हो, किन्तु फणाटोप (फन-फैलाना) ही भयङ्कर होता है ॥२२५॥

अथ यदि मम स्थानार्थमुद्यतस्य मृत्युर्भविष्यति तदपि सुन्दरतरम् ।

अथवा यदि इस दुर्गरक्षा के लिए तत्पर होने पर मेरी मृत्यु भी हो जाय तो भी सुन्दर (अच्छा) ही है ।

उक्तं च—

कहा है—

गवासर्थे ब्राह्मणार्थे स्वाम्यर्थे स्त्रीकृतेऽथवा ।
स्थानार्थे यस्त्यजेत् प्राणांस्तस्य लोकाः सनातनाः ॥२२६॥

गौ के लिए, ब्राह्मण के लिए, प्रभु के लिए, अथवा स्त्री के लिए, या स्थान (देश-रक्षा) के लिए जो अपने प्राणों को छोड़ता है उसे सत्यलोक मिलता है ॥२२६॥

चन्द्रे मण्डलसंस्थे विगृह्यते राहुणा दिनाधीशः ।
शरणागतेन सार्धं विपदपि तेजस्विनां श्लाघ्या' ॥२२७॥

अमावस्या के दिन चन्द्रमण्डल में आते ही सूर्य को राहु ग्रस लेता है । ठीक है, शरणागत की रक्षा के लिए उस के साथ विपत्ति भी तेजस्वियों के लिए प्रशस्य है ॥२२७॥

एवं निश्चित्य प्रत्यूषे दन्तधावनं कृत्वा तां प्रोवाच—'सुभगे ! समस्तैः शत्रुभिर्हतैरन्नं पानं चाऽऽस्वादयिष्यामि । किं बहुना, त्वयापि सह सङ्गमं ततः करिष्यामि । परं वाच्यस्त्वयाऽऽत्मपिता यत् प्रभाते प्रभूतेन सैन्येन सह नगरान्निष्क्रम्य योद्धव्यम् । अहं चाऽऽकाशस्थित एव सर्वांस्तान्निस्तेजसः करिष्यामि । पश्चात् सुखेन भवता हन्तव्याः । यदि पुनरहं तान् स्वयमेव सूदयामि तत् तेषां पापात्मनां वैकुण्ठीया गतिः स्यात् तस्मात् ते तथा कर्तव्या यथा पलायन्तो हन्यमानाः, स्वर्गं न गच्छन्ति ।'

इस प्रकार निश्चय कर उषाकाल में दँतुवन करके उस (राजकुमारी) से कहा—'सुन्दरि ! सब शत्रुओं के मार लेने पर दाना-पानी करूँगा। अधिक क्या कहूँ ? तुम्हारे साथ संगम भी तभी करूँगा। किन्तु तुम भी अपने पिता से कह देना कि प्रभातकाल में बहुत बड़ी सेना लेकर, वे नगर से निकल कर युद्ध करें। और मैं आकाश में स्थित हो उन सबको तेजहीन कर दूँगा, फिर आसानी से आप मार डालिएगा। यदि मैं उनको स्वयं मारूँ तो उन पापियों को वैकुण्ठ की प्राप्ति हो जायगी। इसलिए ऐसा करना चाहिए कि वे भागते हुए मारे जायँ जिससे उन्हें स्वर्ग न मिल सके।'

साऽपि तदाकर्ण्य पितुः समीपं गत्वा सर्वं वृत्तान्तं न्यवेदयत्। राजापि तस्या वाक्यं श्रद्दधानः प्रत्यूषे समुत्थाय सुसन्नद्धसैन्यो युद्धाय निश्चक्राम। कौलिकोऽपि मरणं कृतनिश्चयश्चापपाणिर्गगनगतिर्गरुडारूढो युद्धाय प्रस्थितः।

राजकुमारी ने, उसे सुनकर, पिता के सन्निकट जाकर, सब बातें निवेदन कर दी। राजा भी उसकी बात पर श्रद्धा कर, ऊषःकाल में उठकर सेना सजाकर युद्ध के लिए, निकल पड़ा। कौलिक ने भी अपने मरने का निश्चय कर, हाथ में धनुष लेकर आकाश में, गरुड़ पर चढ़कर, युद्ध के लिए, प्रस्थान किया।

अत्रान्तरे भगवता नारायणेनाऽतीताऽनागत-वर्तमानवेदिना स्मृतमात्रो वैनतेयः सम्प्राप्तो विहस्य प्रोक्तः—'भो गरुत्मन् ! जानासि यन्मम रूपेण कौलिको दारुमयगरुडे समारूढो राजकन्यां कामयते।' सोऽब्रवीत्—'देव ! सर्वं ज्ञायते तच्चेष्टितम्। तत्किं कुर्मः साम्प्रतम्?'

इसी बीच भगवान् नारायण जो अतीत (भूत), अनागत (भविष्य), वर्तमान के जानने वाले हैं, स्मरण करते ही आए हुए गरुड़ (वैनतेय) से हँसकर बोले—'हे पक्षिराज गरुड़ ! क्या तुम जानते हो कि मेरा रूप धारण कर कौलिक काठ के गरुड़ पर चढ़कर राजकन्या का उपभोग करता है।' उस (गरुड़) ने कहा—'उसकी सब चेष्टाएँ ज्ञात हैं। इस समय हमारे लिए क्या आज्ञा होती है ?'

श्रीभगवानाह—'अद्य कौलिको मरणे कृतनिश्चयो विहितनियमो

युद्धार्थं विनिर्गतः । स नूनं प्रधानक्षत्रियशराहतो निधनमेष्यति । तस्मिन् हते सर्वो जनो वदिष्यति यत् प्रभूतक्षत्रियैर्मिलित्वा वासुदेवो गरुडश्च निपातितः । ततः परं लोकोऽयमावयोः पूजां न करिष्यति । ततस्त्वं द्रुततरं तत्र दारुमयगरुडे संक्रमणं कुरु । अहमपि कौलिकशरीरे प्रवेशं करिष्यामि । येन स शत्रून् व्यापादयति । ततश्च शत्रुवधादावयोर्माहात्म्यवृद्धिः स्यात् ।

भगवान् ने कहा—'आज कौलिक अपनी मृत्यु का निश्चय कर, नियम करके, युद्ध के लिए निकल पड़ा है । वह निश्चय ही प्रधान २ क्षत्रियों के बाण का शिकार होकर, मर जायगा । उसके मारे जाने पर सब लोग कहेंगे कि बहुत से क्षत्रियों ने मिल कर वासुदेव और गरुड़ को मार डाला है । तब यह संसार हम दोनों की पूजा न करेगा । इस लिए, तुम अति शीघ्र जाकर उस काष्ठमय गरुड़ में प्रवेश कर जाओ और मैं भी कौलिक के शरीर में प्रवेश करूँगा जिससे वह शत्रुओं को मार सके । तब शत्रु के बध से हम दोनों की महिमा की वृद्धि होगी ।'

अथ गरुडे तथेति प्रतिपन्ने श्रीभगवान् नारायणस्तच्छरीरे संक्रमणमकरोत् । ततो भगवन्माहात्म्येन गगनस्थः स कौलिकः शंखचक्रगदाचापचिह्नितः क्षणादेव लीलयैव समस्तानपि प्रधानक्षत्रियान् निस्तेजसश्चकार ।

गरुड़ के 'बहुत अच्छा' कहने पर, भगवान् नारायण उसके शरीर में प्रवेश कर गये । तब भगवान् की महत्ता के कारण, आकाशस्थित शङ्खचक्र गदा-धनुष के चिह्नित उस कौलिक ने, क्षण भर में ही, बड़ी आसानी से (अनायास ही) समस्त प्रधान क्षत्रियों को तेजहीन कर दिया ।

ततस्तेन राज्ञा स्वसैन्यपरिवृतेन संग्रामे जिता, निहताश्च ते सर्वेऽपि शत्रवः । जातश्च लोकमध्ये प्रवादो यथाऽनेन विष्णुजामातृप्रभावेण सर्वे शत्रवो निहता इति ।

तब वह राजा अपनी सेना के साथ संग्राम में जीत गया और वे सब शत्रु

मार डाले गए। और जनता में इस प्रकार की जनश्रुति फैल गयी कि विष्णुरूप जामाता के प्रभाव से इसने सब शत्रुओं को मार डाला।'

कौलिकोऽपि तान् हतान् दृष्ट्वा प्रमुदितमना गगनादवतीर्णः सन् यावद्राजाऽमात्यपौरलोकास्तं नगरवास्तव्यं कौलिकं पश्यन्ति। ततः पृ 'किमेतत् ?' इति। ततः सोऽपि मूलादारभ्य सर्वं प्राग्वृत्तान्तं न्यवेदयत्।

कौलिक भी उनको मरा हुआ देख कर प्रफुल्लचित्त हो, आकाश से उतर तब राजा, मन्त्री, नागरिकों ने एक साधारण नागरिक के रूप में उस कौलिक देख कर, उससे पूछा—यह क्या बात है ? तब उसने आरम्भ से लेकर सब वृत्तान्त कह दिया।

ततश्च कौलिकसाहसानुरञ्जितमनसा शत्रुवधादवाप्ततेजसा राज्ञा राजकन्या सकलजनप्रत्यक्षं विवाहविधिना तस्मै समर्पिता, देश प्रदत्तः। कौलिकोऽपि तया सार्द्धं पञ्चप्रकारं जीवलोकसारं विषयसु मनुभवन् कालं निनाय। अतस्तूच्यते—'सुप्रयुक्तस्य' इति।

तदनन्तर कौलिक के साहस से प्रसन्न मनवाले और शत्रु के बध से प तेज वाले राजा ने उस राजकन्या को समस्त मनुष्यों के सम्मुख ही विव विधि से उसे समर्पण कर, राज्य भी दे दिया। कौलिक भी उसके स पञ्चेन्द्रिय के भोगने योग्य, मनुष्यलोक के सार, विषय के सुख का अनु करता हुआ, समय व्यतीत करने लगा। इसी से कहा जाता है कि 'अ तरह से छिपाए हुए पाखण्ड के अन्त को...' इत्यादि।

तच्छ्रुत्वा करटक आह—'भद्र ! अस्त्येवम्। परं तथापि मह भयम्। यतो बुद्धिमान् सञ्जीवको, रौद्रश्च सिंहः। यद्यपि ते बुद्धि प्रागल्भ्यं तथापि त्वं पिङ्गलकात् तं वियोजयितुमसमर्थ एव।

उसे सुनकर करटक ने कहा—भद्र ! यह तो ठीक है, किन्तु मुझे बड़ा डर है क्योंकि सञ्जीवक बुद्धिमान है और सिंह भी भीषण (जन्तु) है। य तुम्हारी बुद्धि प्रगल्भ है तथापि तुम पिङ्गलक से उसे अलग कराने में अस ही होगे।

दमनक आह—भ्रातः असमर्थोऽपि समर्थ एव।

दमनक ने कहा—'भाई! असमर्थ होने पर भी समर्थ हूँ।'

उक्तं च—

कहा भी है—

उपायेन हि यत् कुर्यात् तन्न शक्यं पराक्रमैः ।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः' ॥२२८॥

जो कार्य उपाय द्वारा हो सकता है वह विक्रम से नहीं हो सकता। जिस प्रकार, कौए की स्त्री ने कनकसूत्र (सोने की माला) से एक कृष्ण सर्प को मार डाला ॥ २२८ ॥

करटक आह—'कथमेतत्?'

करटक ने कहा—यह किस तरह?

सोऽब्रवीत्—

उसने कहा—

(कथा ६)

अस्ति कस्मिंश्चित् प्रदेशे महान् न्यग्रोधपादपः। तत्र वायसदम्पती प्रतिवसतः स्म। अथ तयोः प्रसवकाले वृक्ष-विवरान्निष्क्रम्य कृष्णसर्पः सदैव तदपत्यानि भक्षयति। ततस्तौ निर्वेदादन्यवृक्षमूलनिवासिनं प्रियसुहृदं शृगालं गत्वोचतुः—

किसी स्थान पर एक बड़ा बरगद का पेड़ था। उसमें एक कौए का जोड़ा (स्त्री-पुरुष) रहता था। उसके प्रसव के समय वृक्ष के खोखले से निकल कर एक काला साँप उनके बच्चों को खा जाता था। तब वे दोनों दुखी हो, दूसरे पेड़ की जड़ में रहनेवाले अपने प्रिय मित्र सियार के पास जाकर बोले—

'भद्र! किमेवंविधे सञ्जाते आवयोः कर्तव्यं भवति? एवं तावद्दुष्टात्मा कृष्णसर्पो वृक्षविवरान्निर्गत्याऽऽवयोर्बालकान् भक्षयति। तत् कथ्यतां तद्रक्षार्थं कश्चिदुपायः? यतः—

'भद्र! इस प्रकार होने पर हम दोनों का क्या कर्तव्य है? वह दुरात्मा

काला साँप इस तरह वृक्ष के खोखले से निकल कर हमारे बालकों को खा जाता है। अतः उसकी रक्षा का कोई उपाय बताओ।, क्योंकि—

यस्य क्षेत्रं नदीतीरे भार्या च परसङ्गता।
स-सर्पे च गृहे वासः कथं स्यात् तस्य निर्वृतिः ? ॥ २२९॥

जिसका खेत नदी के तट पर हो, जिसकी स्त्री परपुरुषाभिलाषिणी हो, और सर्पयुक्त घर में जिसका रहना हो—उसको किस प्रकार सुख की प्राप्ति हो सकती है ॥ २२९॥

अन्यच्च।

और भी कहा है—

सर्पयुक्ते गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः।
यद्ग्रामान्ते वसेत् सर्पस्तस्य स्यात् प्राणसंशयः॥ २३०॥

सर्पयुक्त घर में निवास करने से उसकी मृत्यु में कोई सन्देह ही नहीं। जिस ग्राम में सर्प रहते हों वहाँ भी प्राणों का खतरा है ॥ २३०॥

अस्माकमपि तत्र स्थितानां प्रतिदिनं प्राणसंशयः'। स आह—'नात्र विषये स्वल्पोऽपि विषादः कार्यः। नूनं स लुब्धो नोपायमन्तरेण वध्यः स्यात्। यतः—

वहाँ रहने से हम लोगों को भी प्रतिदिन अपने प्राणों का संशय (आशङ्का) बना रहता है। उसने कहा—इस विषय में तनिक भी दुःख मत करो। वह लोभी सर्प बिना उपाय के न मारा जायगा। क्योंकि—

उपायेन जयो यादृग्रिपोस्तादृङ्न हेतिभिः।
उपायज्ञोऽल्पकायोऽपि न शूरैः परिभूयते ॥२३१॥

उपाय (कौशल) द्वारा रिपु का जिस तरह पराभव हो सकता है उस प्रकार अस्त्रों (हेति) से नहीं हो सकता। क्योंकि उपाय-वेत्ता, अल्प शरीर वाला होने पर भी, वीरों द्वारा जीता नहीं जा सकता ॥२३१॥

तथा च।

और भी—

भक्षयित्वा बहून् मत्स्यानुत्तमाऽधम-मध्यमान्।
अतिलौल्याद्बकः कश्चिन्मृतः कर्कटकग्रहात्' ॥२३२॥

बहुत सी उत्तम (बड़ी), अधम (छोटी) और मध्यम (मझोली) मछलियों को खाकर अति चञ्चलता के कारण कोई बगुला, केकड़े से पकड़े जाने पर, मारा गया ॥२३२॥

तावूचतुः—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

उन दोनों ने कहा—यह किस तरह ? उस (सियार) ने कहा—

(कथा ७)

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनप्रदेशे नानाजलचरसनाथं महत् सरः। तत्र च कृताश्रयो बक एको वृद्धभावमुपागतो मत्स्यान् व्यापादयितुमसमर्थः। ततश्च क्षुत्क्षामकण्ठः सरस्तीरे उपविष्टो मुक्ताफलप्रकरसदृशैरश्रुप्रवाहै-र्धरातलमभिषिञ्चन् रुरोद।

किसी वन में विविध प्रकार के जल के जानवरों से संयुक्त एक बड़ा सरोवर था। उसका आश्रय लिए हुए एक बगुला रहता था जो वृद्ध भाव (वार्द्धक्य) के कारण मछलियों को मारकर खाने में असमर्थ था। तब भूख से सूखे हुए कण्ठवाला होकर, सरोवर के किनारे बैठा हुआ, वह मोतीफल के समूह के समान आँसुओं की धारा से धरातल को आर्द्र करता हुआ, रुदन कर रहा था।

एकः कुलीरको नानाजलचरसमेतः समेत्य तस्य दुःखेन दुःखितः सादरमिदमूचे—'माम ! किमद्य त्वया नाहारवृत्तिरनुष्ठीयते ? केवलमश्रु-पूर्णनेत्राभ्यां स-निःश्वासेन स्थीयते।'

एक केकड़े ने, नाना प्रकार के जलजन्तुओं के साथ वहाँ आकर उसके दुःख से दुःखित होकर, आदरपूर्वक कहा—'मामा ! आज आप अपने आहार की वृत्ति का अनुष्ठान (भोजन) क्यों नहीं कर रहे हैं ? और केवल अश्रुपूर्ण नेत्र करके, आहें भरते हुए बैठे हैं ?'

स आह—'वत्स ! सत्यमुपलक्षितं भवता। मया हि मत्स्यादनं प्रति परमवैराग्यतया साम्प्रतं प्रायोपवेशनं कृतम्, तेनाहं समीपगतानपि मत्स्यान् न भक्षयामि।'

उसने उत्तर दिया—'वत्स ! तुमने अच्छी तरह पहचान (अनुमान) कर लिया। मैंने मत्स्य-भक्षण करने के प्रति परम वैराग्य होने के कारण

आजकल प्रायोपवेशन (सङ्कल्पपूर्वक सम्पूर्ण कार्यों का परित्याग कर, मोक्ष बिना मौत के लिए बैठना) किया है। इसी से निकट आयी हुई मछलियों भी नहीं खा रहा हूँ।'

कुलीरकस्तच्छ्रुत्वा प्राह—'माम ! किं तद्वैराग्यकारणम् ? स प्राह—'वत्स ! अहमस्मिन् सरसि जातो वृद्धिंगतश्च। तन्मयैतच्छ्रुतं यद्द्वादश वार्षिक्यनावृष्टिः सम्पद्यते लग्ना।'

कुलीरक ने उसे सुनकर कहा—'मामा ! इस वैराग्यका कारण क्या है? उसने उत्तर दिया—वत्स ! मैं इस सरोवर में पैदा हुआ और बढ़ा भी। सो मैंने ऐसा सुना है कि बारह वर्ष तक अनावृष्टि होगी।'

कुलीरक आह—'कस्मात् तच्छ्रुतम् ?' बक आह—'दैवज्ञमुखात् एष शनैश्चरो हि रोहिणीशकटं भित्त्वा भौमं शुक्रं च प्रयास्यति।'

कुलीरक के पूछा—'इस बातको किससे सुना है ?' बगुले ने उत्तर दिया—'दैवज्ञ (ज्योतिर्विद ज्योतिषी) के मुख से (सुना है)। क्योंकि शनि रोहिणी शकट (मण्डल) को भेदकर भौम (मङ्गल) और शुक्र के सन्निकट पहुँच जायगा ?

उक्तं च वराहमिहिरेण—

वराहमिहिर ने कहा है—

यदि भिन्ते सूर्यसुतो रोहिण्याः शकटमिह लोके।
द्वादश वर्षाणि तदा न हि वर्षति वासवो भूमौ ॥२२३॥

यदि सूर्यपुत्र (शनि) रोहिणी के शकट को भेदन करे तो इस लोक में बारह वर्ष तक वासव (इन्द्र) भूमि पर वर्षा नहीं करता ॥ २१३ ॥

तथा च—

और भी—

प्रजापत्ये शकटे भिन्ने कृत्वैव पातकं वसुधा।
भस्मास्थिशकलकीर्णा कापालिकमिव व्रतं धत्ते ॥२३४॥

रोहिणी का शकट शनि से भेदित होने पर, पृथ्वी पर पाप होता है और (पृथ्वी) भस्म और अस्थि के टुकड़े से व्याप्त होकर, कापालिक (वाम मार्गी

व्रत को धारण करती है (अर्थात् जिस तरह कापालिक लोग भस्म और हड्डी धारण करते हैं उसी तरह पृथ्वी पर पाप बढ़ने से संहार होता है जिससे चारो ओर हड्डी के टुकड़े और राख दिखलाई पड़ती है मानो पृथ्वी अपने पापों का प्रायश्चित्त करती है) ॥२३४॥

तथा च—

और भी—

रोहिणीशकटमर्कनन्दनश्चेद्भिनत्ति रुधिरोऽथवा शशी ।
किं वदामि तदनिष्टसागरे सर्वलोकमुपयाति संक्षयः ॥२३५॥

रोहिणी के शकट को यदि अर्क-नन्दन (सूर्य-पुत्र शनि), रुधिर (मङ्गल ग्रह) अथवा चन्द्रमा भेदन करे तो मैं उस अमङ्गल-सागर के सम्बन्ध में क्या कहूँ ? उसमें तो सारे संसार का क्षय हो जाय ॥२३५॥

रोहिणीशकटमध्यसंस्थिते चन्द्रमस्यशरणीकृता जनाः ।
क्वापि यान्ति शिशुपाचिताशनाः सूर्यतप्तभिदुराम्बुपायिनः ॥२३६॥

रोहिणी के शकट में चन्द्रमा के संस्थित होने पर, शरणहीन होकर मनुष्य अपने बालकों को बेंचकर या मार कर खाते हैं और सूर्य के ताप से सन्तप्त हुए गरम पानी पीते हुए किसी तरह भागकर अपना दिन काटते हैं ॥२३६॥

तदेतत् सरः स्वल्पतोयं वर्तते । शीघ्रं शोषं यास्यति । अस्मिञ्शुष्के यैः सहाऽहं वृद्धिं गतः, सदैव क्रीडितश्च, ते सर्वे तोयाभावान्नाशं यास्यन्ति । तत् तेषां वियोगं द्रष्टुमहमसमर्थः । तेनैतत् प्रायोपवेशनं कृतम् ।

इस सरोवर में थोड़ा सा जल है । जल्दी ही सूख जायगा; इसके सूख जाने पर, जिन जीवों के साथ मैं वृद्धि को प्राप्त हुआ और सदा क्रीड़ा की है वे सभी जल के अभाव के कारण नष्ट हो जायँगे । तब उनका वियोग अवलोकन करने में मैं असमर्थ हूँगा । इसी से मैंने यह प्रायोपवेशन किया है ।

साम्प्रतं सर्वेषां स्वल्पजलाशयानां जलचरा गुरुजलाशयेषु स्वस्वजनैर्नीयन्ते । केचिच्च मकर-गोधा-शिशुमार-जलहस्तिप्रभृतयः स्वयमेव गच्छन्ति । अत्र पुनः सरसि ये जलचरास्ते निश्चिन्ताः सन्ति । तेनाहं विशेषाद्रोदिमि यद्बीजशेषमात्रमप्यत्र नोद्धरिष्यति ।'

वर्तमान समय में, छोटे २ जलाशयों के जल-जन्तु बड़े २ जलाशयों के अपने २ सम्बन्धियों द्वारा ले जाये जा रहे हैं। कोई २ मगर, ❀ गोधा (गोह नाम से प्रसिद्ध जलजन्तु), शिशुमार (घड़ियाल) और जलहस्ति (तेन्दुआ; हाथी के स्वरूप का पानी का जीव) आदि तो स्वयं ही चले जा रहे हैं। किन्तु इस सरोवर के जितने जलचर हैं वे निश्चिन्त (चिन्ता रहित) हैं उसी से विशेषकर मैं रोता हूँ, कि यहाँ बीजमात्र भी अवशेष न रहेगा।

ततः स तदाकर्ण्याऽन्येषामपि जलचराणां तत्तस्य वचनं निवेदयामास। अथ ते सर्वे भयत्रस्तमनसो मत्स्य-कच्छपप्रभृतयस्तम् अभ्युपेत्य पप्रच्छुः—'माम ! अस्ति कश्चिदुपायो येनाऽस्माकं रक्षा भवति ?'

यह बात सुनकर उसने दूसरे २ जलचरों से उसकी बात कह दी। तब वे भय से सन्त्रस्त (पीड़ित) मनवाले होकर मछली, कछुआ आदि उसके पास पहुँचकर पूछने लगे—मामा ! क्या कोई उपाय है जिससे हम लोगों की रक्षा हो सके !

बक आह—'अस्त्यस्य जलाशयस्य नातिदूरे प्रभूतजलसनाथं सरः पद्मिनीषण्डमण्डितं यच्चतुर्विंशत्यापि वर्षाणामवृष्ट्या न शोषमेष्यति। तद्यदि मम पृष्ठं कश्चिदारोहति तदहं तं तत्र नयामि।'

बगुले ने उत्तर दिया—'इस सरोवर से थोड़ी दूर पर कमलिनी के समूह से सुशोभित, बहुत जल से भरा हुआ एक सरोवर है जो चौबीस वर्ष तक की अनावृष्टि में भी न [illegible]गा। इसलिए यदि मेरी पीठ पर कोई चढ़े तो मैं उसे वहाँ ले जा सकता हूँ।'

अथ ते तत्र विश्वासमापन्नाः 'तात ! मातुल ! भ्रातः !' इति ब्रुवाणाः 'अहं पूर्वमहं पूर्वम्' इति समन्तात् परितस्थुः। सोऽपि दुष्टाशयः क्रमेण तान् पृष्ठे आरोप्य जलाशयस्य नातिदूरे शिलां समासाद्य तस्यामाक्षिप्य स्वेच्छया भक्षयित्वा भूयोऽपि जलाशयं समासाद्य जलचराणां मिथ्यावार्तासन्देशकैर्मनांसि रञ्जयन् नित्यमेवाऽऽहारवृत्तिमकरोत्।

तदनन्तर वे उसके विश्वास में आकर, 'तात ! मामा ! भाई !' 'पहले

❀ 'शशक शल्लको गोधा' मनुः।

ले में' इस प्रकार कहते हुए उसके चारों ओर इकट्ठे हो गये। वह दुरभिप्रा-वाला बगुला क्रम से उनको अपनी पीठ पर चढ़ा कर, जलाशय से थोड़ी दूर ला (चट्टान) पर पहुँच कर उस (शिला) पर पटक कर, इच्छानुसार भक्षण र फिर भी जलाशय में आकर झूठ बातों के सन्देश से, जलचरों के मन को तुष्ट करता हुआ नित्य आहार वृत्ति करने लगा।

अन्यस्मिन् दिने च कुलीरकेणोक्तः 'माम ! मया सह ते प्रथमः हसम्भाषः सञ्जातः। तत्किं मां परित्यज्याऽन्यान् नयसि ? तस्मादद्य मे णत्राणं कुरु। तदाकर्ण्य सोऽपि दुष्टाशयश्चिन्तितवान्—'निर्विण्णोऽहं त्स्यमांसादनेन। तदद्यैनं कुलीरकं व्यञ्जनस्थाने करोमि।'

दूसरे दिन कुलीरक ने कहा—'मामा ! मुझ से आपका पहले पहल प्रेमालाप आ था सो मुझे छोड़कर आप दूसरों को क्यों ले जाते हैं ? इसलिए आज री प्राणरक्षा कीजिए।' उसे सुनकर उस दुष्ट अभिप्रायवाले ने विचार किया मछली का मांस खाते २ मैं घबड़ा गया हूँ। सो आज इस कुलीरक को चटनी स्थान में करूँ।

इति विचिन्त्य तं पृष्ठे समारोप्य तां वध्यशिलामुद्दिश्य प्रस्थितः। लीरकोऽपि दूरादेवाऽस्थिपर्वतं शिलाश्रयमवलोक्य मत्स्यास्थीनि परिज्ञाय पृच्छत्—'माम ! कियद्दूरे स जलाशयः ? मदीयभारेणाऽतिश्रान्त-म्। तत्कथय।'

ऐसा विचार कर उसको पीठ पर चढ़ाकर उस वध्यशिला की ओर ले चला। लीरक ने दूर ही से शिलाश्रय पर हड्डी का पहाड़ (अर्थात् ढेर) देखकर और मछलियों की हड्डी पहचान कर, उससे पूछा—मामा ! वह जलाशय कितनी है ? आप मेरी बोझ से बहुत थक गए हैं, इसलिए बतलाइए।

सोऽपि मन्दधीर्जलचरोऽयमिति मत्वा स्थले न प्रभवतीति सस्मित-दमाह—'कुलीरक ! कुतोऽन्यो जलाशयः ? मम प्राणयात्रेयम्। तस्मात् र्यतामात्मनोऽभीष्टदेवता। त्वामप्यस्यां शिलायां निक्षिप्य भक्षयि-ामि।' इत्युक्तवति तस्मिन् स्ववदनदंशद्वयेन मृणालनालधवलायां ग्रीवायां गृहीतो मृतश्च।

उसने भी, उसे कम-अक्क समझकर और यह जानकर कि स्थल पर कोई वश न चलेगा, मुस्कराते हुए कहा—'कुलीरक ! दूसरा जलाशय यह तो मेरी प्राणयात्रा (आजीविका) है । अतः अपने इष्टदेवता का करो । तुम्हें भी इस शिला पर पटक कर खा जाऊँगा ।' उसके ऐसा कुलीरक ने अपने मुख के दो दाँत से, कमल नाल के समान उसकी मुलायम गरदन को पकड़ लिया जिससे वह मर गया ।

अथ स तां बकग्रीवां समादाय शनैः शनैस्तज्जलाशयमाससाद। सर्वैरेव जलचरैः पृष्टः—'भोः कुलीरक ! किं निवृत्तस्त्वम् ? स मातु नाऽऽयातः ? तत् किं चिरयति ? वयं सर्वे सोत्सुकाः कृतक्षणास्तिष्ट

इसके बाद उस बगुले की गरदन को लेकर वह धीरे २ उस पहुँचा । तब सब जलचरों ने पूछा—'हे कुलीरक ! तुम लौट क्यों आये मामा नहीं आया ? वह देर क्यों कर रहा है ? हम सब उत्कण्ठापूर्वक प्रती उसके आने की राह देख रहे हैं ।'

एवं तैरभिहिते कुलीरकोऽपि विहस्योवाच—'मूर्खाः ! सर्वे रास्तेन मिथ्यावादिना वञ्चयित्वा नातिदूरे शिलातले प्रक्षिप्य भक्षि तन्मयाऽऽयुःशेषतया तस्य विश्वासघातकस्याऽभिप्रायं ज्ञात्वा नीता । तदलं सम्भ्रमेण । अधुना सर्वजलचराणां क्षेमं भविष्यति ।' ऽहं ब्रवीमि—'भक्षयित्वा बहून् मत्स्यान्' इति ।

इस प्रकार उनके कहने पर कुलीरक ने हँसकर कहा—'अरे मूर्खो जलचरों को छलकर, वह झूठ बोलने वाला थोड़ी दूर पर शिलातल पर खा गया है । मेरी आयु शेष रहने के कारण, उस विश्वासघातक के को जानकर, मैं यह उसकी गरदन ले आया हूँ । अब हड़बड़ाने की कोई नहीं । अब सब जलचरों का कुशल ही होगा ।' अतः मैं कहता हूँ मछलियों को खाकर' इत्यादि ।

वायस आह—'भद्र ! तत्कथय कथं स दुष्टसर्पो वधमुपै शृगाल आह—'गच्छतु भवान् कञ्चिन्नगरं राजाधिष्ठानम् । तत्र

निनो राजाऽमात्यादेः प्रमादिनः कनकसूत्रं हारं वा गृहीत्वा तत्कोटरे क्षिप, येन सर्पस्तद्ग्रहणेन बध्यते ।'

कौए ने कहा—भद्र ! कहो, वह दुष्ट सर्प किस प्रकार मारा जायगा ? यार ने कहा—आप राजा के निवासस्थान किसी नगर में जाँय। वहाँ किसी सावधान धनी, राजा या अमात्य (मन्त्री) की सोने की माला अथवा हार ठा कर उसके खोखले में डाल दो। जिससे उस आभूषण के ग्रहण करने के रण सर्प मारा जाय।

अथ तत्क्षणात् काकः काकी च तदाकर्ण्याऽऽत्मेच्छयोत्पतितौ। ततश्च की किञ्चित् सरः प्राप्य यावत् पश्यति, तावत् तन्मध्ये कस्यचिद्राज्ञो- तःपुरं जलासन्नन्यस्तकनकसूत्रं मुक्तमुक्ताहारवस्त्राभरणं जलक्रीडां ते। अथ सा वायसी कनकसूत्रमेकमादाय स्वगृहाभिमुखं प्रतस्ते।

उसी क्षण नर-कौआ और मादा-कौआ दोनों उसे सुनकर अपनी इच्छा से ड़े। तदनन्तर मादा-कौआ किसी सरोवर में पहुँचकर ज्योंही देखती है त्योंही सके बीच में किसी राजा के अन्तःपुर की स्त्री को जल के समीप सोने की ला रखकर और मोतियों का हार, वस्त्र और आभूषण उतार कर, जल क्रीड़ा रते देखा। तब मादा कौआ सोने की एक (केवल) माला लेकर अपने घर ओर रवाना हुई।

ततश्च कञ्चुकिनो वर्षवराश्च तन्नीयमानमुपलक्ष्य गृहीतलगुडाः सत्वर- नुययुः। काक्यपि सर्पकोटरे तत् कनकसूत्रं प्रक्षिप्य सुदूरमवस्थिता।

तब कञ्चुकी और वर्षवर (हिजड़े) उसे लिए जाती हुई देखकर, डण्डा कर शीघ्रता से उसके पीछे २ दौड़े। मादा-कौआ सर्प के खोखले में उस सोने माला को रखकर स्वयं दूर बैठ गयी।

अथ यावद्राजपुरुषास्तं वृक्षमारुह्य तत्कोटरमवलोकयन्ति, तावत् ष्णसर्पः प्रसारितभोगस्तिष्ठति। ततस्तं लगुडप्रहारेण हत्वा कनकसूत्र- दाय यथाभिलषितं स्थानं गताः। वायसदम्पती अपि ततः परं सुखेन सतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'उपायेन हि यत्कुर्यात्' इति। तन्न किञ्चिदिह द्धिमतामसाध्यमस्ति।

राजपुरुष उस वृक्ष पर चढ़ कर ज्योंही उसके खोखले की ओर नज़
हैं तो क्या देखते हैं कि एक काला साँप फन फैलाए हुए बैठा है। उ
डण्डे से मार कर, सोने की माला लेकर वे अपने इच्छित स्थान पर ले
कौए की जोड़ी भी तब से बहुत सुख से रहने लगी। इसलिए मैं कहता
कार्य उपाय द्वारा हो सकता है'...आदि। अतः इस लोक में बुद्धिमानों
कुछ भी असाध्य नहीं है।

उक्तं च—

कहा भी है—

> यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्?
> वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः' ॥२३७॥

जिसके पास बुद्धि है, उसी के पास बल है; बुद्धि-हीन के पास ब
बन में मदोन्मत्त एक सिंह खरहे से मारा गया ॥२३७॥

करटक आह—'कथमेतत्?'

करटक ने कहा—यह किस प्रकार की कथा है?

स आह—

उसने कहा—

(कथा ८)

कस्मिंश्चिद्वने भासुरको नाम सिंहः प्रतिवसति स्म। अ
वीर्यातिरेकान्नित्यमेवानेकान् मृगशशकादीन् व्यापादयन् नोप
अथान्येद्युस्तद्वनजाः सर्वे सारङ्ग-वराह-महिष-शशकादयो मि
तमभ्युपेत्य प्रोचुः—

किसी बन में भासुरक नाम एक सिंह रहता था। वह
(विक्रम के आधिक्य) के कारण नित्य ही अनेक मृग और खरहे
मारता हुआ भी विराम (शान्ति) को नहीं पाता था। इसके अनन्
दिन उस वन के रहनेवाले सब जानवर हरिण, शूकर, भैंसे, और ख
मिलकर उसके पास जाकर कहने लगे—

'स्वामिन् ! किमनेन सकलमृगवधेन नित्यमेव, यतस्तवैकेनापि मृगेण तृप्तिर्भवति तत् क्रियतामस्माभिः सह समयधर्मः। अद्यप्रभृति तवाऽत्रोपविष्टस्य जातिक्रमेण प्रतिदिनमेको मृगो भक्षणार्थं समेष्यति। एवं कृते तव तावत् प्राणयात्रा क्लेशं विनापि भविष्यति, अस्माकं च पुनः सर्वोच्छेदनं न स्यात्। तदेष राजधर्मोऽनुष्ठीयताम्। उक्तं च—

'स्वामिन् ! इस प्रकार नित्य सब जीवों के मारने से क्या लाभ ? क्योंकि एक ही जीव से आपकी तृप्ति हो जाती है। सो हम लोगों से वचन ले लीजिए। आज के दिन से, आपके यहाँ बैठे हुए ही जाति के क्रम से प्रत्येक दिन एक जन्तु आपके भोजन के लिये आया करेगा। ऐसा करने से आपकी प्राणयात्रा (जीविका-निर्वाह) क्लेश-रहित होगी, और हम लोगों का सर्वनाश भी न होगा। सो आप इस राजधर्म का अनुष्ठान कीजिए।' कहा है—

शनैः शनैश्च यो राज्यमुपभुंक्ते यथाबलम्।
रसायनमिव प्राज्ञः स पुष्टिं परमां व्रजेत् ॥२३८॥

धीरे धीरे जो अपने बल के अनुसार राज्य का उपभोग करता है, वह प्रज्ञावान् (बुद्धिमान) रसायन (एक विशेष प्रकार की औषध जिससे वृद्धावस्था दूर हो जाती है) के धीरे २ सेवन करने के तुल्य, परम पुष्टि को प्राप्त हो जाता है ॥२३८॥

विधिना मन्त्रयुक्तेन रूक्षापि मथिताऽपि च।
प्रयच्छति फलं भूमिररणीव हुताशनम् ॥२३९॥

विधि (उपाय) और कृषि की युक्ति के अनुसार ऊसर भूमि भी जोतने पर, फल देती है। जिस प्रकार विधि पूर्वक शास्त्रोक्त मन्त्र जप कर अरणि (यज्ञ में इसी से अग्नि निकाली जाती थी) मथन करने पर अग्नि उत्पन्न करती है ॥२३९॥

प्रजानां पालनं शस्यं स्वर्गकोशस्य वर्धनम्।
पीडनं धर्मनाशाय पापायाऽयशसे स्थितम् ॥२४०॥

राजाओं के लिए प्रजा का पालन करना प्रशंसनीय कहा गया है और

यह स्वर्गरूपी कोष को बढ़ानेवाला है। लेकिन प्रजा पीडन करना धर्म के नाश पाप और अयश (अपकीर्ति) के लिए होता है ॥२४०॥

गोपालेन प्रजाधेनोर्वित्तदुग्धं शनैः शनैः।
पालनात् पोषणाद्ग्राह्यं न्याय्यां वृत्तिं समाचरेत् ॥२४१॥

* गोपाल [राजा, गोप] अपने प्रजा रूपी धेनु का वित्त (धन) रूपी दूध धीरे धीरे पालन और पोषण से ग्रहण करे। और (उनके साथ) न्याय्य (उचित और नीति) की वृत्ति का आचरण करे ॥२४१॥

अजामिव प्रजां मोहाद्यो हन्यात् पृथिवीपतिः।
तस्यैका जायते तृप्तिर्न द्वितीया कथञ्चन ॥२४२॥

लेकिन जो राजा मोह (लालच) वश अपनी प्रजा को अजा (बकरी) के समान मार डालता है सो उसे एक प्रकार की (हिंसाजनित) ही तृप्ति होती है, दूसरे किसी तरह (धनादि लाभ) की नहीं (तृप्ति हो सकती) ॥२४२॥

फलार्थी नृपतिर्लोकान् पालयेद्यत्नमास्थितः।
दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥२४३॥

फल की इच्छा रखनेवाले राजा को चाहिये दान सम्मान आदि रूपी जल से यत्नपूर्वक प्रजा का पालन करे। जिस प्रकार मालाकार अङ्कुरों को (जलदान से पालन करने की चेष्टा करता है) ॥२४३॥

नृपदीपो धनस्नेहं प्रजाभ्यः संहरन्नपि।
आन्तरस्थैर्गुणैः शुभ्रैर्लक्ष्यते नैव केनचित् ॥२४४॥

जिस प्रकार दीपक स्नेह (तेल) को हरण करता (लेता) हुआ, अपने अन्तर-स्थित धवल (बत्ती) गुणों के कारण, लक्षित नहीं होता, उसी प्रकार राजा प्रजा से धन को हरण करता (टैक्स आदि लेता) हुआ भी, अपने अन्तर-स्थित विशद (दान-मान आदि) गुणों के कारण, किसी से लक्षित नहीं होता ॥

यथा गौर्दुह्यते काले पाल्यते च तथा प्रजाः।
सिच्यते चीयते चैव लता पुष्पफलप्रदा ॥२४५॥

* गां पृथिवीं पालयतीति।
'गोपो गोपालके गोष्ठाध्यक्षे पृथ्वीपतावपि ग्रामौघाधिकृते।' इति मेदिनी।

जिस प्रकार गौ समय पर दुही जाती है और पालन की जाती है, जिस प्रकार फूल और फल देने वाली लता (समय पर) सिंची और चयन की जाती है उसी प्रकार प्रजा भी (समय पर) 'कर' आदि टैक्सों से दुही जाती है और पालन की जाती है ॥ २४५ ॥

यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्मः प्रयत्नेनाऽभिरक्षितः।
फलप्रदो भवेत् काले तद्वल्लोकः सुरक्षितः ॥ २४६ ॥

जिस प्रकार छोटे बीज के अङ्कुर की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करने से वे समय पर फलदायक होते हैं उसी प्रकार सुरक्षित प्रजा भी ॥२४६॥

हिरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च।
तथाऽन्यदपि यत् किञ्चित् प्रजाभ्यः स्यान्महीपतेः ॥२४७॥

राजा के पास सोना, धान्य, रत्न, नाना प्रकार के यान (सवारी रथ आदि) एवं अन्य भी जो कुछ (धन) रहता है वह प्रजा से ही तो राजा को प्राप्त होता है ॥ २४७ ॥

लोकानुग्रहकर्तारः प्रवर्धन्ते नरेश्वराः ।
लोकानां संक्षयाच्चैव क्षयं यान्ति न संशयः ॥ २४८ ॥

जनता पर कृपा करनेवाले राजाओं की बढ़ती होती है । और जनता को कष्ट देनेवाले राजा स्वयं नष्ट हो जाते हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ २४८ ॥

अथ तेषां तद्वचनमाकर्ण्य भासुरक आह–'अहो ! सत्यमभिहितं भवद्भिः। परं यदि ममोपविष्टस्याऽत्र नित्यमेव नैकः श्वापदः समागमिष्यति, तन्नूनं सर्वानपि भक्षयिष्यामि ।

तब उन सबों की बात सुनकर भासुरक ने कहा—'हाँ ! हाँ ! तुम लोगों ने ठीक कहा। परन्तु यदि मेरे यहाँ बैठे हुए ही नित्य एक पशु न आवेगा तो फिर मैं सबको अवश्य खा जाऊँगा।'

अथ ते तथैव प्रतिज्ञाय निर्वृतिभाजस्तत्रैव वने निर्भयाः पर्यटन्ति । एकश्च प्रतिदिनं क्रमेण याति । वृद्धो वा, वैराग्ययुक्तो वा, शोकग्रस्तो वा, पुत्रकलत्रनाशभीतो वा, तेषां मध्यात् तस्य भोजनार्थं मध्याह्नसमय उपतिष्ठते ।

तब वे वैसी प्रतिज्ञा कर, निश्चिन्त हो, उसी वन में निर्भय घूमने लगे। एक (जीव) प्रति दिन क्रम से जाने लगा। चाहे बुड्ढा हो, वा वैरागी हो, वा दुःखी हो; वा पुत्र और स्त्री के मरने से भयातुर हो; परन्तु उनमें से एक उसके भोजन के लिए दोपहर के समय पहुँच जाता था।

अथ कदाचिज्जातिक्रमाच्छशकस्याऽवसरः समायातः। स समस्तमृगैः प्रेरितोऽनिच्छन्नपि मन्दं मन्दं गत्वा तस्य वधोपायं चिन्तयन् वेलातिक्रमं कृत्वा व्याकुलितहृदयो यावद्गच्छति तावन्मार्गे कूपमेकं दृष्टवान्।

इसी प्रकार एक दिन जाति के क्रम से खरहे की पारी आयी। सब पशुओं ने भेजा; इच्छा न रहने पर भी धीरे २ जाता हुआ उसके मारने का उपाय सोचता, समय को बिताकर व्याकुल हृदय हो जा ही रहा था कि राह में जाते हुए उसने एक कुँआ देखा।

यावत् कूपोपरि याति तावत् कूपमध्ये आत्मनः प्रतिबिम्बं ददर्श। दृष्ट्वा च तेन हृदये चिन्तितम्—'यद्भव्य उपायोऽस्ति। अहं भासुरकं प्रकोप्य स्वबुद्ध्याऽस्मिन् कूपे पातयिष्यामि।'

जब कुएँ के ऊपर गया तब कुएँ में अपनी परिछाहीं उसे दिखाई पड़ी। देखकर उसने हृदय में सोचा—'यह बहुत अच्छा उपाय है, मैं भासुरक को कुपित करा कर, अपनी बुद्धि से इसी कुएँ में गिराऊँगा।'

अथाऽसौ दिनशेषे भासुरकसमीपं प्राप्तः। सिंहोऽपि वेलातिक्रमेण क्षुत्क्षामकण्ठः कोपाविष्टः सृक्कणी परिलेलिहद्व्यचिन्तयत्—'अहो! प्रातराहाराय निःसत्त्वं वनं मया कर्तव्यम्।' एवं चिन्तयतस्तस्य शशको मन्दं मन्दं गत्वा प्रणम्य तस्याऽग्रे स्थितः।

तब यह सन्ध्या समय भासुरक के निकट पहुँचा। सिंह भी समय व्यतीत हो जाने के कारण, भूख द्वारा कण्ठ सूख जाने से, कुपित हो ओठों के किनारों को चाटता हुआ सोच रहा था—'अच्छा! कल प्रातःकाल ही आहार के लिए सारे वन को मैं पशुरहित कर दूँगा।' वह इस प्रकार सोच रहा था कि खरहा धीरे २ जाकर, प्रणाम कर, उसके आगे खड़ा हो गया।

अथ तं प्रज्वलितात्मा भासुरको भर्त्सयन्नाह—'रे शशकाधम!

एकतस्तावत् त्वं लघुः प्राप्तोऽपरतो वेलातिक्रमेण। तदस्मादपराधात् त्वा निपात्य प्रातः सकलान्यपि मृगकुलान्युच्छेदयिष्यामि'।

तब क्रोध के मारे लाल हो भासुरक ने फटकारते हुए कहा 'क्यों रे नीच खरहे! एक तो तू छोटा सा आया है और दूसरे समय बिता कर आया है। इस अपराध से तुझे मार कर प्रातः सभी जीव-समूहों का प्राणोच्छेदन कर डालूँगा।'

अथ शशकः सविनयं प्रोवाच—'स्वामिन्! नाऽपराधो मम, न च सत्त्वानाम्। तच्छ्रूयतां कारणम्।' सिंह आह—'सत्वरं निवेदय यावन्मम दंष्ट्रान्तर्गतो न भवान् भविष्यति' इति।

तदनन्तर खरहे ने नम्रता पूर्वक कहा—'स्वामिन्! इसमें न तो मेरा अपराध है, और न दूसरे जन्तुओं का। अतः इसका कारण सुनिए।' सिंह ने कहा—'जल्दी कह, जब तक तू मेरी दाढ़ों के भीतर नहीं होता।'

शशक आह—'स्वामिन्! समस्तमृगैरद्य जातिक्रमेण मम लघुतरस्य प्रस्तावं विज्ञाय ततोऽहं पञ्चशशकैः समं प्रेषितः। ततश्चाऽहमागच्छन्नन्तराले महता केनचिदपरेण सिंहेन विवरान्निर्गत्याऽभिहितः—

खरहे ने कहा—'स्वामिन्! सब जन्तुओं ने आज जाति के क्रम से मेरा शरीर बहुत छोटा जानकर, पाँच खरहों के साथ मुझे भेजा। सो जब मैं आ रहा था तब बीच (राह) में एक दूसरे बड़े भारी सिंह ने, अपने माँद से निकल कर मुझ से कहा—

'रे! क्व प्रस्थिता यूयम्? अभीष्टदेवतां स्मरत।' ततो मयाऽभिहितम्—'वयं स्वामिनो भासुरकसिंहस्य सकाशे आहारार्थं समयधर्मेण गच्छामः।'

'अरे! तुम सब कहाँ जा रहे हो? अपने इष्ट देवता का स्मरण करो।' तब मैंने उत्तर दिया—'हमलोग स्वामी भासुरक नाम के सिंह के पास, भोजन के लिए, प्रतिज्ञानुसार जा रहे हैं।'

ततस्तेनाभिहितम्—'यद्येवं तर्हि मदीयमेतद्वनम्। मया सह समयधर्मेण समस्तैरपि श्वापदैर्वर्तितव्यम्। चौररूपी स भासुरकः। अथ यदि

सोऽत्र राजा, ततो विश्वासस्थाने चतुरः शशकानत्र धृत्वा समाहूय द्रुततर-मागच्छ। येन यः कश्चिदावयोर्मध्यात् पराक्रमेण राजा भविष्यति स सर्वानेतान् भक्षयिष्यति' इति।

तदनन्तर उसने कहा—'यदि ऐसी बात है तो यह हमारा वन है, हमारे साथ प्रतिज्ञानुसार सब पशुओं को आचरण करना चाहिए। वह भासुरक तो चोर है। यदि वह यहाँ (इस वन) का राजा है तो विश्वास के लिए चार खरहों को यहाँ रखकर उसे बुलाकर शीघ्र आ। हम दोनों में जो कोई पराक्रम से राजा होगा वही सब जन्तुओं को खायगा।'

ततोऽहं तेनाऽऽदिष्टः स्वामिसकाशमभ्यागतः। एतद्वेलाव्यतिक्रम-कारणम्। तदत्र स्वामी प्रमाणम्।'

सो मैं उसके आदेश पाने पर स्वामी (आप) के पास आया हूँ। यही समय बीतने का कारण है। इसलिए इसमें स्वामी ही प्रमाण हैं (अर्थात् हुजूर जैसा उचित समझें वैसा करे)।

तच्छ्रुत्वा भासुरक आह—'भद्र! यद्येवं तत् सत्वरं दर्शय मे तं चौर-सिंहं, येनाहं मृगकोपं तस्योपरि क्षिप्त्वा स्वस्थो भवामि।' उक्तं च—

इतना सुन भासुरक ने कहा—'भद्र! यदि ऐसा है तो शीघ्र मुझे उस चोर सिंह को दिखलाओ, जिससे मैं पशुओं का क्रोध उस पर निकाल कर शान्त हो जाऊँ।' कहा भी है—

भूमिर्मित्रं हिरण्यञ्च विग्रहस्य फलत्रयम्।
नास्त्येकमपि यद्येषां न तं कुर्यात् कथञ्चन ॥२४९॥

पृथ्वी, मित्र और सोना (सुवर्ण)—ये तीन विग्रह के (उद्देश्य, प्रयोजन) हैं। यदि इनमें से एक के भी मिलने की सम्भावना न हो तो वहाँ विग्रह न करे॥

यत्र न स्यात् फलं भूरि यत्र च स्यात् पराभवः।
न तत्र मतिमान् युद्धं समुत्पाद्य समाचरेत् ॥२५०॥

जहाँ अधिक फल की प्राप्ति न हो और पराभव (पराजय) की आशङ्का हो तो वहाँ, बुद्धिमान को चाहिए कि युद्ध का बीजारोपण न करे ॥२५०॥

शशक आह—'स्वामिन् ! सत्यमिदम् । स्वभूमिहेतोः परिभवाच्च युध्यन्ते क्षत्रियाः । परं स दुर्गाश्रयः । दुर्गान्निष्क्रम्य वयं तेन विष्कम्भिताः । ततो दुर्गस्थो दुःसाध्यो भवति रिपुः ।

खरहे ने कहा—'स्वामिन् ! यह सत्य बात है । अपनी गयी हुई भूमि के पाने के लिए और अपमानित होने पर ही क्षत्रिय लोग युद्ध करते हैं ; परन्तु उसने दुर्ग का आश्रय लिया है; दुर्ग में से बाहर आकर उसने हम लोगों को प्रतिबन्ध कर (घेर) लिया है । अतः दुर्ग में रहनेवाला शत्रु जल्दी वश में नहीं होता ।

उक्तं च—

कहा भी है—

न गजानां सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम् ।
यत्कृत्यं साध्यते राज्ञां दुर्गेणैकेन सिद्ध्यति ॥२५१॥

राजा जिस कार्य को हजारों हाथियों द्वारा और लाखों घोड़ों द्वारा सिद्ध नहीं कर सकता; उसे वह केवल एक दुर्ग के सहारे सिद्ध कर डालता है ॥२५१॥

शतमेकोऽपि सन्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
तस्माद्दुर्गं प्रशंसन्ति नीतिशास्त्रविचक्षणाः ॥२५२॥

किले में रहनेवाला अकेला धनुर्धारी भी सैकड़ों पर (अपने बाणों का) सन्धान कर (निशाना लगा) सकता है । इसलिए नीतिशास्त्रवेत्ता लोग दुर्ग की प्रशंसा करते हैं ॥२५२॥

पुरा गुरोः समादेशाद्धिरण्यकशिपोर्भयात् ।
शक्रेण विहितं दुर्गं प्रभावाद्विश्वकर्मणः ॥२५३॥

प्राचीन समय में गुरु (बृहस्पति) के आदेश से हिरण्यकशिपु के भय से शक्र (इन्द्र) ने विश्वकर्मा की शक्ति (सहायता) से दुर्ग का निर्माण किया था ॥२५३॥

तेनापि च वरो दत्तो यस्य दुर्गं स भूपतिः ।
विजयी स्यात् ततो भूमौ दुर्गाणि स्युः सहस्रशः ॥२५४॥

और उस इन्द्र ने वर भी दे दिया कि जिसके पास दुर्ग रहेगा वह राजा, अवश्य विजयी होगा । तभी से पृथ्वी तलपर हजारों दुर्ग बनाये गए ॥२५४॥

दंष्ट्राविरहितो नागो मदहीनो यथा गजः ।
सर्वेषां जायते वश्यो दुर्गहीनस्तथा नृपः' ॥२५५॥

जिस प्रकार दाढ़ों के बिना साँप (नाग=न गच्छति=अगः न अगः), और मद से रहित हाथी—ये दोनों सबके वश में हो जाते हैं, उसी प्रकार दुर्गहीन राजा ॥२५५॥

तच्छ्रुत्वा भासुरक आह—'भद्र ! दुर्गस्थमपि दर्शय तं चौरसिंहं येन व्यापादयामि । उक्तं च—

उसे सुनकर भासुरक ने कहा—'भद्र ! दुर्ग-स्थित भी उस चोर सिंह को देखलाओ जिससे (मैं) मारडालूँ ।' कहा है—

जातमात्रं न यः शत्रुं रोगं च प्रशमं नयेत् ।
महाबलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते ॥२५६॥

जो उत्पन्न होते ही शत्रु और रोग को अपने वश में नहीं करता वह महाबली भी हो तो उसके वृद्धि को प्राप्त होने पर उससे मारा जाता है ॥२५६॥

यथा च—

और भी—

उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता ।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः स च ॥२५७॥

पथ्य (हित, भलाई) चाहनेवाले मनुष्य को चाहिए कि अपने उठते (बढ़ते) हुए शत्रु की उपेक्षा न करे । क्योंकि शिष्ट पुरुषों ने बतलाया है कि बढ़ते हुए शत्रु और रोग (आमय) दोनों समान रूप से खतरनाक होते हैं ॥२५७॥

अपि च—

और भी—

उपेक्षितः क्षीणबलोऽपि शत्रुः प्रमाददोषात् पुरुषैर्मदान्धैः ।
साध्योऽपि भूत्वा प्रथमं ततोऽसावसाध्यतां व्याधिरिव प्रयाति ॥२५८॥

उपेक्षा करने से गर्विष्ठ पुरुषों के प्रमाद (लापरवाही) के दोष से, दुर्बल

शत्रु भी पहले साध्य होकर भी बाद में--व्याधि के समान—असाध्य हो जाता है ॥२५८॥

तथा च—

और भी—

आत्मनः शक्तिमुद्वीक्ष्य मानोत्साहञ्च यो व्रजेत्।
बहून् हन्ति स एकोऽपि क्षत्रियान् भार्गवो यथा' ॥२५९॥

जो अपनी शक्ति, अभिमान और उत्साह का निरीक्षण कर युद्ध के लिये तत्पर होता है वह एक भी हो तथापि बहुतों को मार सकता है; जिस प्रकार अकेले भार्गव परशुराम ने बहुत से क्षत्रियों को (मारा था) ॥२५९॥

शशक आह—'अस्त्येतत्। तथापि बलवान् स मया दृष्टः। तन्न युज्यते स्वामिनस्तस्य सामर्थ्यमविदित्वा गन्तुम्।

खरहे ने कहा—'यह ठीक है, तथापि मुझे वह बलवान् दिखाई पड़ता है। अतः बिना उसके सामर्थ्य को जाने स्वामी का वहाँ जाना ठीक न होगा।

उक्तं च—

कहा है—

अविदित्वाऽऽत्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः।
गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवत् ॥२६०॥

अपनी शक्ति और शत्रु (की शक्ति) का अन्दाजा लगाए बिना जो बहुत जल्दीबाजी करके आगे जाता है वह, अग्नि के ऊपर गए हुए पतङ्ग के समान, नष्ट हो जाता है ॥२६०॥

यो बलात् प्रोन्नतं याति निहन्तुं सबलोऽप्यरिम्।
विमदः स निवर्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा' ॥२६१॥

जो बलवान् पुरुष भी बलोन्मत्त शत्रु को मारने के लिए जाता है, वह दाँत टूटे हुए हाथी के समान मदहीन होकर लौट आता है ॥२६१॥

भासुरक आह—'भोः! किं तवाऽनेन व्यापारेण? दर्शय मे तं दुर्गस्थमपि।' अथ शशक आह—'यद्येवं तर्ह्यागच्छतु स्वामी।' एवमुक्त्वाऽग्रे व्यवस्थितः।

भासुरक ने कहा—'अरे! इस बात के कहने से क्या प्रयोजन, मुझे

उस किले में रहने वाले को दिखाओ।' खरहे ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो आइए स्वामी!' यह कह कर आगे आगे चला।

ततश्च तेनाऽऽगच्छता यः कूपो दृष्टोऽभूत् तमेव कूपमासाद्य भासुरकमाह—'स्वामिन्! कस्ते प्रतापं सोढुं समर्थः? त्वां दृष्ट्वा दूरतोऽपि चौरसिंहः प्रविष्टः स्वं दुर्गम्। तदागच्छ येन दर्शयामि' इति।

तब उसने, आते समय जो कुआँ देखा था उसी कुएँ पर पहुँच कर, भासुरक से कहा—'स्वामिन् आपका तेज कौन सह सकने में समर्थ है? आप को दूर ही से देख कर वह चोर सिंह अपने किले में घुस गया, सो आइए मैं दिखाऊँ।'

भासुरक आह—'दर्शय मे दुर्गम्।' तदनु दर्शितस्तेन कूपः। ततः सोऽपि मूर्खः सिंहः कूपमध्ये आत्मप्रतिबिम्बं जलमध्यगतं दृष्ट्वा सिंहनादं मुमोच। ततः प्रतिशब्देन कूपमध्याद्द्विगुणतरो नादः समुत्थितः। अथ तेन तं शत्रुं मत्वाऽऽत्मानं तस्योपरि प्रक्षिप्य प्राणाः परित्यक्ताः।

भासुरक ने कहा—'मुझे वह किला दिखावो।' इसके अनन्तर उस (खरहे) ने कुआँ दिखला दिया। तब उस मूर्ख सिंह ने भी कुएँ में अपनी परछाँही जल मध्य देखकर बड़ी जोर से शब्द किया, तब उसकी प्रतिध्वनि से कुएँ में से दूना शब्द हुआ। तब उसने उसे शत्रु समझकर उसके ऊपर अपने को फेंक कर अपना प्राण त्याग किया।

शशकोऽपि हृष्टमनाः सर्वमृगानानन्द्य तैः सह प्रशस्यमानो यथासुखं तत्र वने निवसति स्म। अतोऽहं ब्रवीमि—'यस्य बुद्धिर्बलं तस्य' इति।

खरहा भी प्रसन्नचित्त हो, सब पशुओं को आनन्दित कर उनके द्वारा प्रशंसित हो, सुखपूर्वक उस बन में रहने लगा। इसी से मैं कहता हूँ—'जिसके पास बुद्धि है उसके पास बल है…' इत्यादि।

तद्यदि भवान् कथयति, तत् तत्रैव गत्वा तयोः स्वबुद्धिप्रभावेण मैत्रीभेदं करोमि।' करटक आह—'भद्र! यद्येवं तर्हि गच्छ। शिवास्ते पन्थानः सन्तु। यथाऽभिप्रेतमनुष्ठीयताम्।'

अतः आप कहें तो वहाँ जाकर उन दोनों का, अपनी बुद्धि के प्रभाव से,

मित्रता-विच्छेद कराऊँ। करटक ने कहा—भद्र! यदि ऐसी बात है तो जाओ। तुम्हारे पथ कल्याणकारक हों। जैसा सोचा है वैसा करो।'

अथ दमनकः सञ्जीवकवियुक्तं पिङ्गलकमवलोक्य तत्रान्तरे प्रणम्याऽग्रे समुपविष्टः। पिङ्गलकोऽपि तमाह—'भद्र! किं चिराद्दृष्टः?'

तदनन्तर सञ्जीवक से अलग हुए पिङ्गलक को देखकर दमनक उसी समय प्रणाम कर, उसके आगे बैठ गया। पिङ्गलक ने उससे कहा—'भद्र! आप बहुत दिन के बाद क्यों दिखाई पड़े?'

दमनक आह—'न किञ्चिद्देवपादानामस्माभिः प्रयोजनम्, तेनाहं नाऽऽगच्छामि। तथापि राजप्रयोजनविनाशमवलोक्य सन्दह्यमानहृदयो व्याकुलतया स्वमेवाभ्यागतो वक्तुम्।

दमनक ने उत्तर दिया—महाराज के चरणों को हमसे कुछ प्रयोजन नहीं रहता था इसलिए नहीं आता था, किन्तु राजकार्य का नाश देखकर दुःखित हृदय होकर आकुलता के कारण स्वयं ही कहने के लिए आया हूँ।'

उक्तं च—

कहा भी है—

> प्रियं वा यदि वा द्वेष्यं शुभं वा यदि वाऽशुभम्।
> अपृष्टोऽपि हितं वक्ष्येद्यस्य नेच्छेत् पराभवम्' ॥२६२॥

जो जिसकी पराजय न चाहता हो उसे चाहिए कि प्रिय अथवा द्वेष संयुक्त, अच्छी या बुरी हितकारी बात बिना पूछे ही उससे कह दे ॥२६२॥

अथ तस्य साऽभिप्रायं वचनमाकर्ण्य पिङ्गलक आह—'किं वक्तुमना भवान्? तत्कथ्यतां यत्कथनीयमस्ति।' स प्राह—देव! सञ्जीवको युष्मत्पादानामुपरि द्रोहबुद्धिरिति। स विश्वासगतस्य मम विजने इदमाह—'भो दमनक! दृष्टा मयाऽस्य पिङ्गलकस्य साराऽसारता। तदहमेनं हत्वा सकलमृगाधिपत्यं त्वत्साचिव्यपदवीसमन्वितं करिष्यामि।'

उसकी गूढाशय युक्त बातों को सुनकर पिङ्गलक ने कहा—'आप क्या कहना चाहते हैं? जो कहने के योग्य बात हो तो उसे साफ-साफ कह डालो।' उसने

कहा—महाराज ! सञ्जीवक आप के चरणों में द्रोह-बुद्धि रखता है। उसने मुझ विश्वासपात्र के प्रति ऐसी बात निर्जन स्थल में कही है कि—'हे दमनक ! मैंने इस पिङ्गलक का बलाबल देख लिया। अतः मैं इसे मार कर सम्पूर्ण जीवों का आधिपत्य ग्रहण करूँगा और तुम्हें मन्त्री की पदवी से विभूषित करूँगा।'

पिङ्गलकोऽपि तद्वज्रसारप्रहारसदृशं दारुणं वचः समाकर्ण्य मोहमुपगतो न किञ्चिदप्युक्तवान्। दमनकोऽपि तस्य तमाकारमालोक्य चिन्तितवान्—'अयं तावत् सञ्जीवकनिबद्धरागः, तन्नूनमनेन मन्त्रिणा राजा विनाशमवाप्स्यति' इति।

पिङ्गलक ने उसकी वज्र के समान कठोर प्रहार-युक्त दारुण बात सुनकर, मोह की दशा (संज्ञारहित, ठकमुर्री) हो जाने के कारण कुछ कह न सका। दमनक भी उसकी मुखाकृति को देखकर विचार करने लगा—'यह तो सञ्जीवक के प्रेम में फँसा हुआ है अतः इस मन्त्री से राजा अवश्य ही विनाश को प्राप्त होगा।'

उक्तं च—

कहा भी है—

एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा
तं मोहाच्छ्रयते मदः स च मदाद्दास्येन निर्विद्यते।
निर्विण्णस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः प्राणेष्वभिद्रुह्यते ॥२६३॥

राजा जब एक ही मन्त्री को राजकार्यों में प्रामाणिक करता है (अर्थात् उसी की बात ठीक मानता है) तब उस मन्त्री को मोह के कारण अहङ्कार होता है और वह अहङ्कार से दासता (राजसेवा) के कारण दुःखी होता है। दुःखी होने पर उसके हृदय में अपनी स्वतन्त्रा के प्रति लालसा (अभिलाषा) स्थान करती है और उस स्वातन्त्र्येच्छा के कारण वह राजा के प्राणों से द्रोह करता है (अर्थात् राजा को मारने की इच्छा करता है) ॥२६३॥

तत्किमत्र युक्तम् ?' इति। पिङ्गलकोऽपि चेतनां समासाद्य कथमपि तमाह—'सञ्जीवकस्तावत् प्राणसमो भृत्यः। स कथं ममोपरि द्रोहबुद्धिं करोति।'

तो यहाँ क्या करना चाहिए ?' पिङ्गलक ने किसी तरह होश में आकर उससे कहा—'दमनक! सञ्जीवक तो मेरा प्राणों के तुल्य अनुचर है। वह मुझ पर द्रोह-बुद्धि कैसे करेगा ?'

दमनक आह—'देव! भृत्योऽभृत्य इत्यनैकान्तिकमेतत्। उक्तं च—

दमनक ने कहा—'महाराज! सब अनुचर सर्वदा अनुचर नहीं रह सकते ? कहा भी है—

न सोऽस्ति पुरुषो राज्ञां यो न कामयते श्रियम्।
अशक्ता एव सर्वत्र नरेन्द्रं पर्युपासते' ॥२६४॥

राजा का ऐसा कोई अधिकारी नौकर नहीं मिलेगा जो राजलक्ष्मी की कामना न करता हो। किन्तु एकमात्र अशक्त ही मनुष्य सब प्रकार से राजा की सेवा (नौकरी) करते हैं ॥२६४॥

पिङ्गलक आह—भद्र! तथापि मम तस्योपरि चित्तवृत्तिर्न विकृतिं याति। अथवा साध्विदमुच्यते—

पिङ्गलक ने कहा—'भद्र! तथापि मेरी चित्तवृत्ति में विकार (विरोध भाव) नहीं उत्पन्न होता।' अथवा यह उचित ही कहा गया है—

अनेकदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः ?
कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः ॥२६५॥

अनेक दोषों से दूषित होने पर भी अपना शरीर किसे नहीं प्रिय है ? लेकिन अपने विरुद्ध अनुचित आचरण करने पर भी जो प्रिय बना रहता है वही वस्तुतः प्रिय है ॥२६५॥

दमनक आह—'अत एवाऽयं दोषः। उक्तं च—

दमनक ने कहा—यही तो दूषण है ? कहा भी है—

यस्मिन्नेवाऽधिकं चक्षुरारोपयति पार्थिवः।
अकुलीनः कुलीनो वा स श्रियो भाजनं नरः ॥२६६॥

पार्थिव (राजा) जिस मनुष्य पर अधिक कृपादृष्टि रखता है वह चाहे अकुलीन अथवा कुलीन; किन्तु लक्ष्मी का पात्र अवश्य हो जाता है ॥२६६॥

अपरं केन गुणविशेषेण स्वामी सञ्जीवकं निर्गुणकमपि निकटे धारयति। अथ देव! यद्येवं चिन्तयसि—'महाकायोऽयम्। अनेन रिपून् व्यापादयिष्यामि।' तदप्यस्मान्न सिध्यति, यतोऽयं शष्पभोजी। देवपादानां पुनः शत्रवो मांसाशिनः। तद्रिपुसाधनमस्य साहाय्येन न भवति। तस्मादेनं दूषयित्वा हन्यताम्' इति।

फिर स्वामी किस विशेष गुण के कारण गुणरहित सञ्जीवक को अपने समीप रखते हैं? हे महाराज! यदि आप इस प्रकार विचार करते हो कि 'यह बड़ा शरीर वाला है जिसके द्वारा शत्रुओं को मार डालूँगा।' तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि यह तृण भक्षण करने वाला है और महाराज-चरणों के शत्रु तो मांस खाने वाले हैं। अतः इसकी सहायता से शत्रु से बदला भी नहीं लिया जा सकता। इसलिए इस पर दूषण (तोहमत) लगा कर मार डालिए।'

पिङ्गलक आह—

पिङ्गलक ने कहा—

उक्तो भवति यः पूर्वं गुणवानिति संसदि।
तस्य दोषो न वक्तव्यः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ॥२६७॥

यदि कोई किसी के लिए सभा में पहले यह कह दे कि 'यह गुणवान् है' तो फिर अपनी पूर्व-प्रतिज्ञा के भङ्ग होने की आशङ्का से बाद में उसके दोष को न कहे ॥२६७॥

अन्यच्च मयाऽस्य तव वचनेनाऽभयप्रदानं दत्तम्। तत्कथं स्वयमेव व्यापादयामि? सर्वथा सञ्जीवकोऽयं सुहृदस्माकम्। न तं प्रति कश्चिन्मन्युरस्ति। उक्तं च—

फिर भी इसको मैंने तुम्हारे ही कहने से अभयदान दिया है। सो स्वयं कैसे मार सकता हूँ? यह सञ्जीवक हमारा सब तरह से मित्र है। अतः उसके प्रति हमें जरा भी क्रोध नहीं है। कहा है—

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ॥२६८॥

† वह असुर (तारकासुर) मुझ से भी (विभूति) प्राप्त कर चुका है अतः मेरे हाथों वध के योग्य नहीं है क्योंकि अपने हाथों विषवृक्ष बढ़ा कर, फिर उसे स्वयं काटना उचित नहीं है' ॥२६८॥

आदौ न प्रणयिनां प्रणयो विधेयो
दत्तोऽथवा प्रतिदिनं परिपोषणीयः ।
उत्क्षिप्य यत्क्षिपति तत्प्रकरोति लज्जां
भूमौ स्थितस्य पतनाद्भयमेव नास्ति ॥२६९॥

पहले तो प्रेमियों को प्रेम करना ही नहीं चाहिए। यदि प्रीति कर ली तो उस (प्रेम) को प्रत्येक दिन बढ़ाता रहे। किसी की बाँह पकड़ कर (अर्थात् प्रेम करके) जो छोड़ देता है तो उससे लज्जा होती है; क्योंकि जिस तरह पृथ्वी पर बैठने वाले को गिरने की आशङ्का ही नहीं रहती (उसी प्रकार उसके प्रेम-बन्धन में बँधे न रहने से उसके पतन पर कष्ट नहीं होता) ॥२६९॥

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ? ।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥२७०॥

जो उपकार करने वालों के प्रति भलाई करता है तो उसकी उपकारिता का कौन सा गुण हुआ ? जो अपने अपकार करने वालों के प्रति सरल आचरण करता है वस्तुतः वही सज्जनों द्वारा साधु कहा गया है ॥२७०॥

तद्द्रोहबुद्धेरपि मयाऽस्य न विरुद्धमाचरणीयम् ।' दमनक आह—स्वामिन् ! नैष राजधर्मो यद्द्रोहबुद्धेरपि क्षम्यते । उक्तं च—

अतः इसके द्रोह-बुद्धि रखने पर भी मैं इसके विरुद्ध कार्रवाई नहीं कर सकता ।' दमनक ने कहा—'स्वामिन् ! यह राज-धर्म नहीं है कि द्रोह रखने वाले को भी क्षमा कर दिया जाय ।' कहा है—

तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्यं मर्मज्ञं व्यवसायिनम् ।
अर्धराज्यहरं भृत्यं यो न हन्यात् स हन्यते ॥२७१॥

---

† यह ब्रह्मा का वाक्य देवताओं के प्रति है—जो तारकासुर द्वारा अत्यन्त सताए गए थे । इसकी कथा महाभारत में है ।

समान वित्त (राज्य की आकांक्षा) वाले, समान सामर्थ्यवाले, रहस्य की बात जानने वाले, उद्योगी और आधा राज्य हड़प कर जाने वाले अनुचर को जो नहीं मारता वह स्वयं उसके हाथों मारा जाता है ॥२७१॥

अपरं त्वयाऽस्य सखित्वात् सर्वोऽपि राजधर्मः परित्यक्तः। राजधर्माभावात् सर्वोऽपि परिजनो विरक्तिं गतः। यः सञ्जीवकः स शष्पभोजी, भवान् मांसादः, तव प्रकृतयश्च। यत्तवाऽवध्यव्यवसायवाह्यं कुतस्तासां मांसाशनम्? यद्रहितास्तास्त्वां त्यक्त्वा यास्यन्ति। ततोऽपि त्वं विनष्ट एव। अस्य सङ्गत्या पुनस्ते न कदाचिदाखेटके मतिर्भविष्यति।

इसके अतिरिक्त इसकी मैत्री के कारण आपने राज्यकार्य छोड़ दिया है। राज्यकार्य के अभाव से सब परिजन आप से विरक्त हो गए हैं। सञ्जीवक घास भक्षण करनेवाला है और आप मांस खानेवाले हैं; और आप के अनुचर भी (मांसाहारी हैं)। जो आपने जीवों को मारना छोड़ दिया है तो उनको मांस भोजन कहाँ से मिलेगा? जिसके न मिलने के कारण वे आपको छोड़कर चले जायँगे। तदनन्तर आपका सत्यानाश हो जायगा; इसकी सङ्गति से फिर कभी भी आपकी बुद्धि शिकार में न होगी।

उक्तं च—

कहा है—

याद‍ृशैः सेव्यते भृत्यैर्याद‍ृशांश्चोपसेवते।
कदाचिन्नाऽत्र सन्देहस्ताद‍ृग्भवति पूरुषः ॥२७२॥

जो मनुष्य जिस प्रकार के भृत्यों द्वारा सेवन किया जाता है अथवा जिस प्रकार के भृत्यों के संग में रहता है वह मनुष्य वैसाही हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं ॥२७२॥

तथा च—

उसी प्रकार—

सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।

स्वातौ सागरशुक्तिकुक्षिपतितं तज्जायते मौक्तिकं
प्रायेणाऽधममध्यमोत्तमगुणः संवासतो जायते ॥२७३॥

खूब गर्म हुए लोहे पर पड़े हुए जल का नाम तक नहीं मालूम होता और वही जल कमलिनी के पत्ते पर पड़ा हुआ मोती के सदृश शोभित होता है; स्वाती नक्षत्र में वही जल सागर की सीपी के अन्दर पड़कर मुक्ता (मोती) हो जाता है। ठीक है प्रायः अधम, मध्यम और उत्तम गुण संगति से होते हैं ॥२७३॥

तथा च—

और भी—

असतां सङ्गदोषेण साधवो यान्ति विक्रियाम्।
दुर्योधनप्रसङ्गेन भीष्मो गोहरणे गतः ॥२७४॥

असज्जनों की सङ्गति के दोष से सज्जन लोग भी बिगड़ जाते हैं; जिस प्रकार दुर्योधन के सङ्ग में रहने से भीष्मपितामह भी (राजा विराट की) गौओं का अपहरण करने के लिए गए थे ॥२७४॥

अत एव सन्तो नीचसङ्गं वर्जयन्ति। उक्तं च—

इसी से सज्जन लोग नीचों की सङ्गति नहीं करते। कहा भी है—

न ह्यविज्ञातशीलस्य प्रदातव्यः प्रतिश्रयः।
मत्कुणस्य च दोषेण हता मन्दविसर्पिणी' ॥२७५॥

जिसका स्वभाव न ज्ञात हो तो उसे आश्रय न देना चाहिए; क्योंकि खटमल के दोष से मन्दविसर्पिणी मारी गयी ॥२७५॥

पिङ्गलक आह—'कथमेतत्? सोऽब्रवीत्—

पिङ्गलक ने पूछा—यह कैसे? उसने कहा—

कथा (९)

अस्ति कस्यचिन्महीपतेः कस्मिंश्चित् स्थाने मनोरमं शयनस्थानम्। तत्र शुक्लतरपटयुगलमध्यसंस्थिता मन्दविसर्पिणी नाम श्वेता यूका प्रतिवसति स्म। सा च तस्य महीपते रक्तमास्वादयन्ती सुखेन कालं नयमाना तिष्ठति।

किसी पृथ्वीनाथ (राजा) का किसी स्थान पर मनोरम (चित्ताकर्षक) शयनागार था। वहाँ सफेद दुपट्टे (दोहर की खोली) के बीच में एक मन्दविसर्पिणी नाम की सफेद जूँ रहती थी। वह उस राजा के रक्त का आस्वादन करती हुई सुखपूर्वक समय व्यतीत करती थी।

अन्येद्युश्च तत्र शयने कश्चिद्भ्राम्यन्नग्निमुखो नाम मत्कुणः समायातः। अथ तं दृष्ट्वा सा विषण्णवदना प्रोवाच—'भो अग्निमुख ! कुतस्त्वमत्राऽनुचितस्थाने समायातः। तद्यावन्न कश्चिद्वेत्ति, तावच्छीघ्रं गम्यताम्' इति।

किसी दूसरे दिन उसी शयनस्थल में कहीं से घूमता फिरता अग्निमुख नाम का खटमल आया। तब उसे देखकर, उदास मुँह हो उस दुःखित (जूँ) ने कहा—'अरे अग्निमुख ! तुम कहाँ से अपने रहने के अयोग्य स्थान में आ गये ! इसलिए जब तक किसी को मालूम न हो तब तक जल्दी से चले जाओ।

स आह—'भगवति ! गृहाऽऽगतस्याऽसाधोरपि नैतद्युज्यते वक्तुम्। उक्तं च—

उसने उत्तर दिया कि 'हे देवी ! अपने घर पर आए हुए असज्जन पुरुषों के प्रति भी ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि कहा है—

एह्यागच्छ समाश्वसाऽऽसनमिदं कस्माच्चिराद्दृश्यसे
का वार्ता न्वतिदुर्बलोऽसि कुशलं प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात्।
एवं नीचजनेऽपि युज्यति गृहं प्राप्ते सतां सर्वदा
धर्मोऽयं गृहमेधिनां निगदितः स्मार्तैर्लघुः स्वर्गदः ॥२७६॥

'यहाँ आइये ! यह रुचिर आसन है ! आप बहुत दिन के बाद दिखलाई पड़े ! क्या समाचार है ! आप अत्यन्त क्षीणकाय हो गये हैं। कुशलपूर्वक तो हैं न ! आपके दर्शन से मैं सन्तुष्ट हुआ !'—इस प्रकार की बात सज्जन लोग नीच पुरुषों के भी अपने घर पर आने के समय सर्वदा कहा करते हैं ! क्योंकि यह गृहस्थों का धर्म है, जो अत्यन्त स्वल्प है और स्वर्ग की प्राप्ति करानेवाला है—ऐसा धर्मशास्त्र के रचयिताओं ने कहा है ॥२७६॥

अपरं मयाऽनेकमानुषाणामनेकविधानि रुधिराण्यास्वादितान्याहार-

दोषात् कटुतिक्तकषायाम्लरसास्वादानि, न च मया कदाचिन्मधुररक्तं समास्वादितम् ।

इसके अतिरिक्त मैंने विविध प्रकार के मनुष्यों के नाना प्रकार के रुधिरों का आस्वादन किया है। आहार के दोष से कटु (कड़वा), तिक्त (तीता), कषाय (कसैला) और अम्ल (खट्टा) रसों का आस्वादन किया है किन्तु मैंने कभी भी मधुर (मीठा) रक्त नहीं चखा है।

तद्यदि त्वं प्रसादं करोषि, तदस्य नृपतेर्विविधव्यञ्जनान्नपानचोष्य-लेह्यस्वाद्वाहारवशादस्य शरीरे यन्मिष्टं रक्तं सञ्जातम्, तदास्वादनेन सौख्यं सम्पादयामि जिह्वायाः' इति ।

इसलिए यदि आप कृपा करें तो इस राजा के अनेक प्रकार के व्यञ्जन (भोजनोपकरण), अन्न-पान, चोष्य (चूसकर खानेवाले पदार्थ); लेह्य (चाट कर खाने वाले पदार्थ) स्वादिष्ट आहार के करने के कारण जो शरीर में मीठा रक्त उत्पन्न हो गया है तो उसके समास्वादन से अपनी जिह्वा को तृप्त करूँ। क्योंकि—

उक्तं च—

कहा है—

रङ्कस्य नृपतेर्वापि जिह्वासौख्यं समं स्मृतम् ।
तन्मात्रं च स्मृतं सारं यदर्थं यतते जनः ॥२७७॥

गरीब और राजा दोनों के लिए जिह्वा का सुख समान कहा गया है। यहाँ जिह्वा के सुख के लिए मनुष्य जितना प्रयत्न करते हैं बस इस संसार में उतना ही सार है ॥२७७॥

यद्येवं न भवेल्लोके कर्म जिह्वाप्रतुष्टिदम् ।
तन्न भृत्यो भवेत् कश्चित् कस्यचिद्वशगोऽथवा ॥२७८॥

यदि इस संसार में इस प्रकार जिह्वा को सन्तुष्ट करनेवाला कोई कर्म न हो तो कोई न किसी का नौकर होता और न आधीन होता ॥२७८॥

यदसत्यं वदेन्मर्त्यो यद्वाऽसेव्यं च सेवते ।
यद्गच्छति विदेशं च तत्सर्वमुदरार्थतः ॥२७९॥

जो मनुष्य असत्य भाषण करता है अथवा असेवनीय (नीच) पुरुष का सेवन (नौकरी) करता है और जो विदेश जाता है—ये सब कर्म केवल पेट के लिए ही किये जाते हैं ॥२७९॥

तन्मया गृहागतेन बुभुक्षया पीड्यमानेन त्वत्सकाशाद्भोजनमर्थनीयम्, तन्न त्वयैकाकिन्याऽस्य भूपते रक्तभोजनं कर्तुं युज्यते।'

तो घर में आए और भूख से व्याकुल जीव की (मेरी) तुम से भोजन की ही वाञ्छा है। अतः इस नृपति का तुम्हें अकेले भोजन करना युक्त नहीं है।'

तच्छ्रुत्वा मन्दविसर्पिण्याह—'भो मत्कुण ! अहमस्य नृपतेर्निद्रावशं गतस्य रक्तमास्वादयामि। पुनस्त्वमग्निमुखश्चपलश्च। तद्यदि मया सह रक्तपानं करोषि वत्तिष्ठ। अभीष्टतरं रक्तमास्वादय।'

उसे सुनकर मन्दविसर्पिणी ने कहा—'अरे खटमल ! मैं इस राजा के निद्रा के वशीभूत हो जाने पर रक्त का आस्वादन करती हूँ। फिर तू तो अग्निमुख और चञ्चल है। यदि मेरे साथ रक्तपान करना चाहता है तो ठहर जा; अभीष्ट मधुर रक्त का आस्वादन करना।'

सोऽब्रवीत्—'भगवति ! एवं करिष्यामि। यावत् त्वं नाऽऽस्वादयसि प्रथमं नृपरक्तम्' तावन्मम देवगुरुकृतः शपथः स्यात्, यदि तदास्वादयामि।'

उसने कहा—'गुणवती ! ऐसी ही करूँगा। जब तक तुम पहले राजा का रक्तपान न कर लेगी तब तक मुझे देवगुरु की सौगन्द है यदि मैं वैसा करूँ।'

एवं तयोः परस्परं वदतोः स राजा तच्छयनमासाद्य प्रसुप्तः। अथाऽसौ मत्कुणो जिह्वालौल्यप्रकृष्टौत्सुक्याज्जाग्रतमपि तं महीपतिमदशत्। अथवा साध्विदमुच्यते—

इस प्रकार उन दोनों के आपस में बातचीत करने पर वह राजा उस शय्या पर आकर सो रहा। अनन्तर उस खटमल ने जिह्वा की चञ्चलता एवं गाढ़ोत्सुकता के कारण उस राजा को जागते हुए ही काट लिया। वा यह सत्य कहा है—

स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा।
सुतप्तमपि पानीयं पुनर्गच्छति शीतताम् ॥२८०॥

उपदेश से स्वभाव का परिवर्तन नहीं किया जा सकता। क्योंकि खूब अच्छी तरह गर्म किया हुआ पानी भी फिर ठंढा ही हो जाता है ॥२८०॥

यदि स्याच्छीतलो वह्निः शीतांशुर्दहनात्मकः।
न स्वभावोऽत्र मर्त्यानां शक्यते कर्तुमन्यथा ॥२८१॥

अग्नि शीतल हो जाय और शीतांशु (चन्द्रमा) आग उगलने लगे—(ये दोनों बातें सम्भव हो सकती हैं) किन्तु मनुष्यों का स्वभाव परिवर्तन कर देना असम्भव है ॥२८१॥

अथाऽसौ महीपतिः सूच्यग्रविद्ध इव तच्छयनं त्यक्त्वा तत्क्षणादेवोत्थितः प्रोवाच—'अहो ! ज्ञायतामत्र प्रच्छादनपटे मत्कुणो यूका वा नूनं तिष्ठति, येनाहं दष्टः' इति।

तब वह राजा सुई की नोंक के समान वेधा हुआ अपनी मसहरी छोड़ कर उसी समय उठ कर बैठ गया और बोला—अरे ! देखो तो इस ओढ़ में खटमल या जूँ अवश्य है, जिसने मुझे काट लिया है।

अथ ये कञ्चुकिनस्तत्र स्थितास्ते सत्वरं प्रच्छादनपटं गृहीत्वा सूक्ष्मदृष्ट्या वीक्षां चक्रुः। अत्रान्तरे स मत्कुणश्चापल्यात् खट्वान्तं प्रविष्टः। सा मन्दविसर्पिण्यपि वस्त्रसन्ध्यन्तर्गता तैर्दृष्टा, व्यापादिता च।

इसके अनन्तर जो कञ्चुकिगण (जमादार) वहाँ मौजूद थे उन लोगों ने शीघ्रता से ओढ़ने को लेकर सूक्ष्म दृष्टि (बड़ी गौर) से देखना आरम्भ किया। तब वह खटमल चञ्चलता के कारण चारपाई में घुस गया। वह मन्दविसर्पिणी वस्त्र के जोड़ के बीच देखी गयी और उन लोगों ने उसे मार डाला।

अतोऽहं ब्रवीमि—'न ह्यविज्ञातशीलस्य' इति। एवं ज्ञात्वा त्वयैष वध्यः। नो चेत् त्वां व्यापादयिष्यति। उक्तञ्च—

इसी से मैं कहता हूँ 'जिसका स्वभाव न ज्ञात हो' इत्यादि। ऐसा समझ कर तुम्हें इसका वध करना ही उचित है, नहीं तो यह तुम्हें ही मार डालेगा। कहा है—

त्यक्ताश्चाऽभ्यन्तरा येन बाह्याश्चाभ्यन्तरीकृताः।
स एव मृत्युमाप्नोति यथा राजा ककुद्द्रुमः' ॥२८२॥

जिसने अपने आत्मीय मनुष्यों को छोड़ दिया है और बाहरी मनुष्यों को (उच्च पद देकर) अपना बना लिया है वही मृत्युका शिकार होता है, जिस प्रकार राजा ककुद्द्रुम (नामक सियार) मारा गया ॥२८२॥

पिङ्गलक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

पिङ्गलक ने पूछा—यह कथा किस प्रकार है ? उसने कहा—

(कथा १०)

कस्मिंश्चिद्वनप्रदेशे चण्डरवो नाम शृगालः प्रतिवसति स्म। स कदाचित् क्षुधाविष्टो जिह्वालौल्यान्नगरान्तरे प्रविष्टः। अथ तं नगरवासिनः सारमेया अवलोक्य सर्वतः शब्दायमानाः परिधाव्य तीक्ष्णदंष्ट्राग्रैर्भक्षितुमारब्धाः।

किसी वनप्रदेश में चण्डरव नाम का सियार रहता था। वह एक समय भूख से पीड़ित हो जिह्वा की लालच से नगर के अन्दर घुसा। तब नगर के रहनेवाले सारमेय (कुत्ते) उसे देखकर सब ओर से भोंकते हुए दौड़े और चोखे दाढ़ों से खाने के लिए प्रयत्न करने लगे।

सोऽपि तैर्भक्ष्यमाणः प्राणभयात् प्रत्यासन्नरजकगृहं प्रविष्टः। तत्र च नीलीरसपरिपूर्णमहाभाण्डं सज्जीकृतमासीत्। तत्र सारमेयैराक्रान्तो भाण्डमध्ये पतितः। अथ यावन्निष्क्रान्तस्तावन्नीलीवर्णः सञ्जातः।

वह भी उनसे काटे जाने पर, प्राण के भय से पास ही एक धोबी के घर में घुस गया। वहाँ नीले रङ्ग से भरी हुई नाद रखी थी। वह कुत्तों द्वारा आक्रान्त होने के कारण उसी पात्र में गिर पड़ा। जब उसमें से निकला तो नीले रङ्ग का हो गया।

तत्राऽपरे सारमेयास्तं शृगालमजानन्तो यथाऽभीष्टां दिशं जग्मुः। चण्डरवोऽपि दूरतरं प्रदेशमासाद्य काननाभिमुखं प्रतस्थे। न च नीलवर्णेन कदाचिन्निजरङ्गस्त्यज्यते। उक्तं च—

तब वे कुत्ते उसे सियार न जानकर, अपने २ स्थानों पर चले गए। चण्डरव भी बहुत दूर जाकर जङ्गल की ओर चला। लेकिन नीलवर्ण कभी अपना (नीला) रङ्ग नहीं छोड़ता। कहा है—

वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां कर्कटस्य च।
एको ग्रहस्तु मीनानां नीलीमद्यपयोर्यथा ॥२८३॥

वज्रलेप, मूर्ख स्त्री, केकड़े और मछली—इनका एवं नील वर्ण और मदिरापान करने वाले का एक ही ग्रह है (अर्थात् जिसे पकड़ लिये उसे पकड़ लिये) ॥२८३॥

अथ तं हरगलगरलतमालसमप्रभमपूर्वं सत्त्वमवलोक्य सर्वे सिंह-व्याघ्र-द्वीपि-वृकप्रभृतयोऽरण्यनिवासिनो भयव्याकुलचित्ताः समन्तात् पलायन-क्रियां कुर्वन्ति, कथयन्ति च—'न ज्ञायतेऽस्य कीदृग्विचेष्टितं पौरुषं च ? तद्दूरतरं गच्छामः। उक्तञ्च—

तब महादेवजी के गले के गरल (विष) और तमाल के समान (गाढ़े नील रंग वाले) अपूर्व प्रभा वाले जन्तु को देखकर सब सिंह बाघ चीता भेड़िया आदि बन के रहनेवाले भय से व्याकुल चित्त हो चारो ओर भागने लगे और कहने लगे; हम लोग नहीं जानते कि इसकी कैसी चेष्टा और बल है। सो इसलिए दूर चलें। कहा भी है—

न यस्य चेष्टितं विद्यान्न कुलं न पराक्रमम्।
न तस्य विश्वसेत् प्राज्ञो यदीच्छेच्छ्रियमात्मनः' ॥२८४॥

जिसकी चेष्टा (आचरण), वंश और विक्रम का पता न हो तो अपने कल्याण की इच्छा रखनेवाले विद्वान् को चाहिए कि उसका विश्वास न करे ॥ २८४ ॥

चण्डरवोऽपि तान् भयव्याकुलितान् विज्ञायेदमाह—'भो भोः श्वापदाः! किं यूयं मां दृष्ट्वैव सन्त्रस्ता व्रजथ ? तन्न भेतव्यम्। अहं ब्रह्मणाऽद्य स्वयमेव सृष्ट्वाऽभिहितः—

चण्डरव ने उन सबको भय से घबड़ाये हुए जानकर यह कहा—अरे हिंसक पशुओ! तुम सब मुझे देखकर ही क्यों डर से भागे जारहे हो। मत डरो; मुझे ब्रह्मा ने आज स्वयं ही बनाकर कहा है कि—

यच्छ्वापदानां मध्ये कश्चिद्राजा नास्ति तत् त्वं मयाऽद्य सर्वश्वापद-

प्रभुत्वेऽभिषिक्तः ककुद्द्रुमाभिधः। ततो गत्वा क्षितितले तान् सर्वान् परिपालय' इति। ततोऽहमत्रागतः। तन्मम छत्रच्छायायां सर्वैरेव श्वापदैर्वर्तितव्यम्। अहं ककुद्द्रुमो नाम राजा त्रैलोक्येऽपि सञ्जातः।

'हिंस्र जन्तुओं में कोई राजा नहीं है। सो मैं आज सब हिंसक पशुओं की प्रभुता के पद पर तुम्हारा अभिषेक करता हूँ (अर्थात् तुम्हें राजा बनाता हूँ)। तुम्हारा ककुद्द्रुम नाम है। इस कारण पृथ्वीतल में जाकर उन सबका परिपालन करो। इसलिए मैं आया हूँ। अतः मेरी छत्रच्छाया में रह कर (आश्रित होकर) सम्पूर्ण हिंस्र जीवों को वैसा आचरण करना चाहिए। मैं ककुद्द्रुम नामवाला तीनों लोकों का राजा हुआ।'

तच्छ्रुत्वा सिंहव्याघ्रपुरःसराः श्वापदाः 'स्वामिन्! प्रभो! समादिश' इति वदन्तस्तं परिवव्रुः। अथ तेन सिंहस्याऽमात्यपदवी प्रदत्ता। व्याघ्रस्य शय्यापालत्वम्। द्वीपिनस्ताम्बूलाधिकारः। वृकस्य द्वारपालकत्वम्। ये चात्मीयाः शृगालास्तैः सहाऽऽलापमात्रमपि न करोति। शृगालाः सर्वेऽप्यर्धचन्द्रं दत्त्वा निःसारिताः।

उसे सुन कर सिंघ बाघादि हिंस्र पशु 'हे स्वामिन्! हे प्रभो! आज्ञा दीजिए' ऐसा कहते हुये उसके चारों ओर घेरकर खड़े हो गये। तब उसने सिंह को मन्त्री की पदवी दी, बाघ को बिछावन करने का अधिकार दिया, चीते को पान लगाने वाला बनाया, भेड़िये को द्वारपाल बनाया और जो अपने वर्ग के सियार थे उनके साथ तो वह बात भी न करता था। सब सियारों को गरदनिया देकर बाहर निकलवा दिया।

एवं तस्य राज्यक्रियायां वर्तमानस्य ते सिंहादयो मृगान् व्यापाद्य तत्पुरतः प्रक्षिपन्ति। सोऽपि प्रभुधर्मेण सर्वेषां तान् प्रविभज्य प्रयच्छति।

इस प्रकार उसके राज-कन्या करने पर वे सिंह आदि पशु लोग जीवों को मारकर उसके आगे रख देते थे। वह राजधर्म के अनुसार उन सबों को विभाजित कर (हिस्सा लगा कर) देता था।

एवं गच्छति काले कदाचित् तेन समागतेन दूरदेशे शब्दायमानस्य

शृगालवृन्दस्य कोलाहलोऽभावि । तं शब्दं श्रुत्वा पुलकिततनुरानन्दाश्रुपरिपूर्णनयन उत्थाय तारस्वरेण विरोतुमारब्धवान् ।

यों ही कुछ समय व्यतीत होने पर एक दिन उसने सभा में बैठे हुए दूर स्थान में चिल्लाते हुये सियारों के समूह का कोलाहल सुना । उस शब्द को सुन कर रोमाञ्चित शरीर हो, आनन्द के कारण आँखों में आँसू भर जाने के कारण उठकर, उच्च स्वर से चिल्लाना आरम्भ किया ।

अथ ते सिंहादयस्तं तारस्वरमाकर्ण्य शृगालोऽयमिति मत्वा सलज्जमधोमुखाः क्षणमेकं स्थित्वा मिथः प्रोचुः—'भोः ! वाहिता वयमनेन क्षुद्रशृगालेन । तद्वध्यताम्' इति ।

तब वे सिंह आदि उसके उच्च स्वर को सुन कर यह सियार है ऐसा जानकर, लज्जा के कारण नीचे मुँह कर एक क्षण ठहरने के बाद आपस में कहने लगे—'अरे ! इस नीच सियार ने तो हमलोगों से दास का काम कराया, सो इसे मारो ।'

सोऽपि तदाकर्ण्य पलायितुमिच्छंस्तत्र स्थान एव सिंहादिभिः खण्डशः कृतो मृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—'त्यक्ताश्चाभ्यन्तरा येन' इति ।

उसने भी इतना सुन कर ज्योंही भागने की इच्छा की कि उसी स्थान पर सिंहादिकों ने टुकड़े २ कर डाला और तब मर गया । अतः मैं कहता हूँ—'जिसने अपने आत्मीयों को छोड़ दिया है'......इत्यादि ।

तदाकर्ण्य पिङ्गलक आह—'भो दमनक ! कः प्रत्ययोऽत्र विषये यत् स ममोपरि दुष्टबुद्धिः ?'

उसे सुन पिङ्गलक ने कहा—हे दमनक ! इस विषय में क्या प्रत्यय (विश्वास करने का कारण) है कि वह मेरे ऊपर द्रोहबुद्धि रखता है ?

स आह—'यदद्य ममाग्रे तेन निश्चयः कृतो यत् प्रभाते पिङ्गलकं वधिष्यामि, तदत्रैवं प्रत्ययः । प्रभातेऽवसरवेलायामारक्तमुखनयनः स्फुरिताधरो दिशोऽवलोकयन्ननुचितस्थानोपविष्टस्त्वां क्रूरदृष्ट्या विलोकयिष्यति । एवं ज्ञात्वा यदुचितं तत् कर्तव्यम् ।'

उसने उत्तर दिया कि जो आज मेरे सम्मुख उसने निश्चय किया है कि कल

प्रातःकाल पिङ्गलक को मारूँगा यही इसमें प्रमाण है। प्रभातकाल में आपके पास आने के समय उसके मुख और नेत्र लाल २ रहेंगे, ओठ फरकते रहेंगे, दिशाओं की ओर देखता हुआ अनुचित स्थान पर बैठ कर आपकी ओर कोपयुक्त दृष्टि से देखेगा। इस प्रकार के लक्षणों को जानकर जो उचित समझियेगा उसे कीजिएगा।'

इति कथयित्वा सञ्जीवकसकाशं गतस्तं प्रणम्योपविष्टः। सञ्जीवकोऽपि सोद्वेगाकारं मन्दगत्या समायान्तं समुद्वीक्ष्य सादरतरमुवाच— 'भो मित्र! स्वागतम्। चिराद्दृष्टोऽसि। अपि शिवं भवतः? तत्कथय येनाऽदेयमपि तुभ्यं गृहागताय प्रयच्छामि। उक्तं च—

ऐसा कह कर सञ्जीवक के समीप गया। उसे प्रणाम कर बैठ गया। सञ्जीवक ने उसके घबड़ाए हुए चेहरे को और धीरे २ आते हुए, देख कर आदरपूर्वक कहा—'हे मित्र! आइए, आपका स्वागत करता हूँ। बहुत दिन के बाद दिखलाई पड़े। कहिए कुशल पूर्वक तो हैं न? अतः कहिए, जिससे अदेय वस्तु भी तुम्हें—घर पर आए हुए को—दूँ।' कहा भी है—

ते धन्यास्ते विवेकज्ञास्ते सभ्या इह भूतले।
आगच्छन्ति गृहे येषां कार्यार्थं सुहृदो जनाः ॥२८५॥

इस संसार में वे ही धन्य, विचारशील और सभ्य कहे जाते हैं जिनके घर पर कार्य के निमित्त मित्रगण आया करते हैं ॥२८५॥

दमनक आह—'भोः! कथं शिवं सेवकजनस्य?

दमनक ने कहा—'अरे भाई! सेवकों का कुशल कहाँ?

सम्पत्तयः परायत्ताः सदा चित्तमनिर्वृतम्।
स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राजसेवकाः ॥२८६॥

जो राज-सेवक होते हैं उनकी सम्पत्ति पराधीन, चित्त सर्वदा अशान्त और अपने जीवन के सम्बन्ध में भी उनको अविश्वास बना रहता है ॥२८६॥

तथा च—

और भी—

सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम्।
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम् ॥२८७॥

सेवा द्वारा धन की कामना करने वाले सेवकों ने जो किया है उसे भी देख लो, उसे जो अपने शरीर की स्वतन्त्रता थी उसे भी मूर्खों ने अपने हाथों गँवा दी ॥२८७॥

Baburam Tiwari M.I

तावज्जन्मातिदुःखाय ततो दुर्गतता सदा।
तत्रापि सेवया वृत्तिरहो दुःखपरम्परा ॥२८८॥

पहले जन्म ही अत्यन्त दुःख के लिए होता है, उस पर भी—सर्वदा दरिद्रता रहती है और फिर उसमें सेवा की वृत्ति हो तब तो अहह! दुःख की कोई सीमा ही नहीं बची ॥ २८८ ॥

जीवन्तोऽपि मृताः पञ्च श्रूयन्ते किल भारते।
दरिद्रो व्याधितो मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः ॥२८९॥

महाभारत में पाँच तरह के मनुष्य जीते हुये भी मरे कहे गये हैं—(एक) दरिद्र, (दूसरा) व्याधि संपीड़ित मनुष्य, (तीसरा) मूर्ख, (चौथा) प्रवासी (विदेश में रहनेवाला) और (पाँचवाँ) नित्य सेवा करनेवाला ॥२८९॥

नाश्नाति स्वेच्छयौत्सुक्याद्विनिद्रो न प्रबुध्यते।
न निःशङ्कं वचो ब्रूते सेवकोऽप्यत्र जीवति ॥२९०॥

अभिलाषा होने पर भी अपनी इच्छा से सेवक नहीं खाता; पूरी नींद न होने पर भी जाग जाता है और निर्भय होकर कोई बात नहीं कहता—क्या इतने पर भी सेवक जीवित रहते हैं, ऐसा कहा जा सकता है? ॥२९०॥

सेवा श्ववृत्तिराख्याता यैस्तैर्मिथ्या प्रजल्पितम्।
स्वच्छन्दं चरति श्वाऽत्र सेवकः परशासनात् ॥२९१॥

'सेवा की वृत्ति (नौकरी) कुत्ते की वृत्ति के समान (दर-दर ठोकर खाना दुरदुराया जाना) है' ऐसा जिन्होंने कहा है उन्होंने व्यर्थ बकवाद किया है; क्योंकि श्वान तो स्वच्छन्द (स्वाधीन, स्वतन्त्र) भ्रमण करता रहता है और सेवक अपने प्रभु की आज्ञा पाने पर कहीं जा सकता है ॥२९१॥

भूशय्या ब्रह्मचर्यं च कृशत्वं लघुभोजनम्।
सेवकस्य यतेर्यद्वद्विशेषः पापधर्मजः ॥ २९२ ॥

सेवक और यति में सब विषय तुल्य ही है क्योंकि दोनों पृथ्वीतल पर सोते

हैं, दोनों ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हैं, दोनों का शरीर कृश रहता है, और दोनों थोड़ा भोजन करते हैं। केवल दोनों में इतना अन्तर है कि यह सब आचरण सेवक पाप के लिए करता और यति धर्म के लिए करता है ॥ २९२ ॥

शीताऽऽतपादिकष्टानि सहते यानि सेवकः।
धनाय तानि चाऽल्पानि यदि धर्मान्न मुच्यते ॥२९३॥

यदि वे सेवक धर्म से पराङ्मुख न होते तो धन के लिए, सर्दी और गर्मी के कष्टों को जो (सेवक) सहन करते हैं, वे कष्ट अत्यन्त कम होते ॥२९३॥

मृदुनाऽपि सुवृत्तेन सुमिष्टेनापि हारिणा।
मोदकेनापि किं तेन ? निष्पत्तिर्यस्य सेवया' ॥ २९४ ॥

कोमल, गोल, अत्यन्त मीठा और मनोहर मोदक (लड्डू) से क्या लाभ ! कि जिसकी निष्पत्ति (प्राप्ति, सिद्धि) सेवा द्वारा है ॥२९४ ॥

सञ्जीवक आह—'अथ भवान् किं वक्तुमनाः ?' सोऽब्रवीत्—'मित्र ! सचिवानां मन्त्रभेदं कर्तुं न युज्यते। उक्तं च—

सञ्जीवक ने कहा—आप क्या कहना चाहते हैं ? उसने कहा—मित्र ! मुझ जैसे मन्त्रियों का मन्त्र भेद करना ठीक नहीं है ! कहा है—

यो मन्त्रं स्वामिनो भिन्द्यात् साचिव्ये सन्नियोजितः।
स हत्वा नृपकार्यं तत् स्वयं च नरकं व्रजेत् ॥२९५॥

जो मन्त्री के पद पर स्थित होकर मन्त्रभेद करे तो राजा के कार्य की हानि कर वह स्वयं नरक में जाता है ॥ २९५ ॥

येन यस्य कृतो भेदः सचिवेन महीपतेः।
तेनाऽशस्त्रवधस्तस्य कृत इत्याह नारदः ॥ २९६ ॥

जिस मन्त्री ने जिस राजा का मन्त्रभेद कर दिया है उसने बिना किसी शस्त्र के ही उसका वध कर दिया—ऐसा नारदजी ने कहा है ॥२९६॥

तथापि मया तव स्नेहपाशबद्धेन मन्त्रभेदः कृतः। यतस्त्वं मम वचनेनाऽत्र राजकुले विश्वस्तः प्रविष्टश्च। उक्तं च—

तथापि मैंने तुम्हारे प्रेम के पाश में आबद्ध रहने के कारण मन्त्रभेद कर

दिया है। क्योंकि तुम मेरे कहने से इस राजकुल में विश्वस्त एवं प्रविष्ट हुए। कहा है—

विश्रम्भाद्यस्य यो मृत्युमवाप्नोति कथञ्चन।
तस्य हत्या तदुत्था सा प्राहेदं वचनं मनुः॥ २९७॥

जिसका विश्वास करने से जो कोई किसी प्रकार मृत्युलाभ करे तो उसकी हत्या उस मनुष्य को लगती है—ऐसा वाक्य भगवान् मनु ने कहा है॥२९७॥

तत्तवोपरि पिङ्गलकोऽयं दुष्टबुद्धिः। कथितं चाऽद्याऽनेन मत्पुरतश्चतुष्कर्णतया—यत् 'प्रभाते सञ्जीवकं हत्वा समस्तमृग-परिवारं चिरात् तृप्तिं नेष्यामि।' ततः स मयोक्तः—'स्वामिन्! न युक्तमिदं यन्मित्रद्रोहेण जीवनं क्रियते। उक्तं च—

सो तुम्हारे ऊपर यह पिङ्गलक बुरी नीयत रखता है और आज जब मैं और वह दो ही थे तब उसने मुझसे कहा कि प्रभातकाल होते ही सञ्जीवक को मार कर सारे मृग परिवार को चिरकाल तक के लिए तृप्त करूँगा। तब उससे मैंने कहा—'स्वामिन्! यह उचित नहीं है कि मित्र-द्रोह करके जीवन व्यतीत किया जाय।' कहा है—

अपि ब्रह्मवधं कृत्वा प्रायश्चित्तेन शुध्यति।
तदर्हेण विचीर्णेन न कथञ्चित् सुहृद्द्रुहः' ॥२९८॥

मनुष्य ब्रह्मवध करके प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध भी हो सकता है किन्तु मित्रद्रोही किसी प्रकार का भी अनुष्ठान कर शुद्धि के योग्य नहीं हो सकता॥२९८॥

ततस्तेनाऽहं सामर्षेणोक्तः—'भो दुष्टबुद्धे! सञ्जीवकस्तावच्छष्पभोजी, वयं मांसाशिनः, तदस्माकं स्वाभाविकं वैरम्।' इति, कथं रिपुरुपेक्ष्यते? तस्मात् सामादिभिरुपायैर्हन्यते। न च हते तस्मिन् दोषः स्यात्। उक्तं च—

तदनन्तर उसने मुझसे स-कोप कहा—'अरे दुष्टबुद्धि! सञ्जीवक तो तृणभक्षण करने वाला है और हम मांस भक्षण करने वाले हैं; अतः हमारा और उसका स्वाभाविक (नैसर्गिक) विरोध है। इसलिए शत्रु की उपेक्षा क्यों की जाय? इसी लिए सामादि उपायों का अवलम्बन करके वे मारे जाते हैं। और इस तरह उनके मारे जाने में कोई दोष भी नहीं है। कहा भी है—

दत्त्वाऽपि कन्यकां वैरी निहन्तव्यो विपश्चिता ।
अन्योपायैरशक्यो यो हते दोषो न विद्यते ॥२९९॥

यदि किसी अन्य उपायों द्वारा न मारा जाय तब अपनी कन्या देकर भी नीतिज्ञ पण्डित को चाहिए कि अपने वैरी का हनन करे क्योंकि उस शत्रु के मारने में कोई दोष नहीं है ॥२९९॥

कृताऽकृत्यं न मन्येत क्षत्रियो युधि सङ्गतः ।
प्रसुप्तो द्रोणपुत्रेण धृष्टद्युम्नः पुरा हतः' ॥३००॥

युद्ध के लिए तत्पर होकर क्षत्रिय को चाहिए कि कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार न करे, क्योंकि प्राचीन समय में, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने (अपने शत्रु) धृष्टद्युम्न को सोते हुए अवस्था में मार डाला था ॥३००॥

तदहं तस्य निश्चयं ज्ञात्वा त्वत्सकाशमिहागतः । साम्प्रतं मे नास्ति विश्वासघातकदोषः । मया सुगुप्तमन्त्रस्तव निवेदितः । अथ यत् ते प्रतिभाति तत् कुरुष्व' इति । अथ सञ्जीवकस्तस्य तद्वज्रपातदारुणं वचनं श्रुत्वा मोहमुपागतः । अथ चेतनां लब्ध्वा स-वैराग्यमिदमाह-'भोः ! साध्विदमुच्यते—

अतः मैं उसकी निश्चित बात (उद्देश्य) जानकर तुम्हारे पास आया हूँ। अब मुझे विश्वासघात करने का कोई दोष नहीं लग सकता। मैंने यह अत्यन्त गुप्त बात तुमसे निवेदन कर दी है । अब जैसा अच्छा समझिए वैसा कीजिए।' तब वज्रपात के तुल्य उसकी दारुण बात सुन कर सञ्जीवक संज्ञारहित हो गया। तदनन्तर होश में आकर वासनारहित बातें कहने लगा ! 'हे मित्र ! यह ठीक ही कहा गया है—

दुर्जनगम्या नार्यः प्रायेणाऽस्नेहवान् भवति राजा ।
कृपणानुसारि च धनं मेघो गिरिदुर्गवर्षी च ॥३०१॥

नारियाँ प्रायः दुर्जनों से प्रीति रखती हैं, राजा प्रेमरहित होता है, धन कञ्जूस के पास रहता है, और मेघ पहाड़ और किले पर ही बरसते हैं ॥३०१॥

अहं हि सम्मतो राज्ञो य एवं मन्यते कुधीः ।
बलीवर्दः स विज्ञेयो विषाणपरिवर्जितः ॥३०२॥

'राजा मेरी ही सम्मति मानता है' ऐसा जो बुद्धिमान् (अपने को राजा का प्रियपात्र) मानता है उसे सींग रहित बैल जानना चाहिए ॥३०२॥

वरं वनं वरं भैक्ष्यं वरं भारोपजीवनम् ।
वरं व्याधिर्मनुष्याणां नाऽधिकारेण सम्पदः ॥३०३॥

बल्कि मनुष्यों को वन में रहना अच्छा है, भिक्षा माँग कर भोजन करना अच्छा है, बोझा ढोने की उपजीविका अच्छी है, और व्याधि युक्त (रोगी) होना भी अच्छा है, किन्तु (राजकीय) सेवा-वृत्ति से सम्पत्ति प्राप्त करना अच्छा नहीं है ॥३०३॥

तद्युक्तं मया कृतं यदनेन सह मैत्री विहिता । उक्तं च—

अतः मैंने ठीक नहीं किया कि इसके साथ मित्रता की । कहा भी है—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम् ।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्ट-विपुष्टयोः ॥३०४॥

जिन मनुष्यों के पास आपस में समान धन और समान कुल हों उनको ही आपस में मित्रता और विवाह करना उचित है; क्योंकि अन्य पुष्टि सहितों एवं पुष्टिहीनों (अर्थात् बली और निर्बल, धनी और निर्धन) के साथ पारस्परिक सम्बन्ध ठीक नहीं होता ॥२०४॥

तथा च—

और भी—

मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति
गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः ।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः
समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ॥२०५॥

मृग मृगों के साथ, गाय गायों के साथ, घोड़ा घोड़ों के साथ, मूर्ख मूर्खों के साथ और विद्वान् विद्वानों के साथ मित्रता करते हैं क्योंकि मित्रता समान शील व्यसन (आचार-विचार) वालों में ही होती है ॥३०५॥

तद्यदि गत्वा तं प्रसादयामि, तथापि न प्रसादं यास्यति । उक्तं च—

अतः यदि मैं जानकर उसको सन्तुष्ट करने का प्रयत्न भी करूँ तथापि वह सन्तुष्ट न होगा। क्योंकि कहा है—

निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति
ध्रुवं स तस्याऽपगमे प्रशाम्यति।
अकारणद्वेषपरो हि यो भवेत्
कथं नरस्तं परितोषयिष्यति ? ॥३०६॥

जो किसी निमित्त कोधित होता है तो वह उस (निमित्त) के नाश होने पर निश्चय ही शान्त हो जाता है। लेकिन जो बिना कारण ही द्वेष करनेवाला है उसे मनुष्य किस प्रकार सन्तोष प्रदान कर सकता है ? ॥३०६॥

अहो, साधु चेदमुच्यते—

अरे ! यह ठीक ही कहा जाता है—

भक्तानामुपकारिणां परहितव्यापारयुक्तात्मनां
सेवासंव्यवहारतत्त्वविदुषां द्रोहच्युतानामपि।
व्यापत्तिः स्खलितान्तरेषु नियता सिद्धिर्भवेद्वा न वा
तस्मादम्बुपतेरिवाऽवनिपतेः सेवा सदाऽऽशङ्किनी ॥३०७॥

उपकारी भक्त, दूसरों के लिये (हितकारी) कार्य करनेवाले, सेवा तथा व्यवहार के तत्त्व के ज्ञाता और द्रोह रहित मनुष्यों को भी थोड़ी सी त्रुटि के कारण विपत्ति उठानी पड़ती है चाहे उन्हें सम्पत्ति का लाभ हो या न हो। इसलिए जिस तरह अम्बुपति (सागर) की सेवा सर्वदा शङ्कायुक्त है उसी प्रकार अवनीपति (राजा) की सेवा भी ॥३०७॥

तथा च—

और भी—

भावस्निग्धैरुपकृतमपि द्वेष्यतां याति लोके
साक्षादन्यैरपकृतमपि प्रीतये चोपयाति।
दुर्ग्राह्यत्वान्नृपतिमनसां नैकभावाश्रयाणां
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥३०८॥

इस संसार में स्नेह भाव से किया हुआ उपकार भी द्वेषता को प्राप्त होता

है, और साक्षात् दूसरों का अपकार करने पर भी उसकी प्रसन्नता के लिए हो जाता है। सर्वदा एक प्रकार से न बने रहने वाले राजाओं का मन दुर्ग्राह्य है। इस कारण सेवाधर्म परम कठिन है जो योगियों को भी अगम्य (अवेद्य) होता है ॥३०८॥

तत्परिज्ञातं मया यत्प्रसादमसहमानैः समीपवर्तिभिरेष पिङ्गलकः प्रकोपितः। तेनाऽयं ममाऽदोषस्याप्येवं वदति। उक्तं च—

अतः मैंने जान लिया कि मेरे ऊपर स्वामी की कृपा को देख न सकनेवाले और पार्श्व-वर्तियों (समीप रहने वालों) ने इस पिङ्गलक को कुपित करा दिया है। उसी कारण से मुझ निर्दोषी को भी यह इस प्रकार कहता है। क्योंकि कहा है—

प्रभोः प्रसादमन्यस्य न सहन्तीह सेवकाः।
सपत्न्य इव संक्रुद्धाः सपत्न्याः सुकृतैरपि ॥३०९॥

इस लोक में स्वामी के अनुग्रह को दूसरे सेवक लोग बर्दाश्त नहीं कर सकते। जिस प्रकार सौतिन स्त्रियाँ किसी एक स्त्री पर अपने पति की कृपा (प्यार) को सहन नहीं कर सकती हैं ॥३०९॥

भवति चैवं यद्गुणवत्सु समीपवर्तिषु गुणहीनानां न प्रसादो भवति। उक्तं च—

इस प्रकार होता ही है कि गुणवानों के रहते गुणरहितों के ऊपर (राजाओं की) कृपा नहीं होती। कहा है—

गुणवत्तरपात्रेण च्छाद्यन्ते गुणिनां गुणाः।
रात्रौ दीपशिखाकान्तिर्न भानावुदिते सति' ॥३१०॥

अधिक गुणवान पुरुषों द्वारा सामान्य गुणवानों के गुण आच्छादित हो जाते हैं; जिस प्रकार रात्रि में ही दीपक की शिखा सुन्दर मालूम होती है, न कि सूर्य के उदय होने पर ॥३१०॥

दमनक आह—'भो मित्र! यद्येवं तन्नास्ति ते भयम्। प्रकोपितोऽपि स दुर्जनैस्तव वचनरचनया प्रसादं यास्यति।'

दमनक ने कहा—हे मित्र! यदि ऐसी बात है (अर्थात् तुम निर्दोष हो)

तो तुम्हें भयभीत न होना चाहिए। दुष्टों द्वारा कुपित कराये जाने पर भी वह तुम्हारी लच्छेदार बातों से खुश हो जायगा।

स आह—भोः! न युक्तमुक्तं भवता। लघूनामपि दुर्जनानां मध्ये वस्तुं न शक्यते। उपायान्तरं विधाय ते नूनं घ्नन्ति। उक्तं च—

उसने कहा—यह तुमने ठीक बात नहीं कही। छोटे भी दुष्टों में बस (रह) नहीं सकते। वे दूसरे उपायों का अवलम्बन कर निश्चय ही मार डालते हैं। कहा भी है—

बहवः पण्डिताः क्षुद्राः सर्वे मायोपजीविनः।
कुर्युः कृत्यमकृत्यं वा उष्ट्रे काकादयो यथा' ॥३११॥

बहुत से क्षुद्र विचारवाले † पण्डित, करने योग्य और न करने योग्य के विचारों का परित्याग कर, माया (कूटनीति) द्वारा अपनी जीविका चलाते हैं जिस प्रकार ऊँट के साथ कौए आदिकों ने किया ॥३११॥

दमनक आह—'कथमेतत्? सोऽब्रवीत्—

दमनक ने कहा—यह कथा किस प्रकार है? उसने कहा—

(कथा ११)

कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म। तस्य चाऽनुचरा अन्ये द्वीपि-वायस-गोमायवः सन्ति। अथ कदाचित् तैरितस्ततो भ्रमद्भिः सार्थभ्रष्टः क्रथनको नामोष्ट्रो दृष्टः।

किसी वन में मदोत्कट नाम का एक सिंह रहता था। उसके अनुचर चीते, कौए, शृगाल थे। किसी समय उन्होंने इधर-उधर घूमते घूमते एक भटका हुआ क्रथनक नाम का ऊँट देखा।

अथ सिंह आह—'अहो! अपूर्वमिदं सत्त्वम्। तज्ज्ञायतां किमेतदारण्यकं ग्राम्यं वा?' इति। तच्छ्रुत्वा वायस आह—'भो स्वामिन्! ग्राम्योऽयमुष्ट्रनामा जीवविशेषस्तव भोज्यः। तद्व्यापाद्यताम्।' सिंह आह—'नाऽहं गृहमागतं हन्मि। उक्तं च—

† बौद्धसाहित्य में ऐसा ही प्रयोग मिलता है।

तब सिंह ने कहा—'अहो ! यह बड़ा अद्‌भुत जन्तु है। देखो तो यह जङ्गली है या गाँव का रहने वाला ?' यह सुनकर कौए ने कहा—'हे स्वामी ! यह गाँव का रहने वाला, ऊँट नाम का जन्तु है और आप के खाने के योग्य है सो इसे मार डालिए।' सिंह ने कहा—'मैं अपने घर पर आए हुए को नहीं मारता। कहा है—

गृहे शत्रुमपि प्राप्तं विश्वस्तमकुतोभयम्।
यो हन्यात् तस्य पापं स्याच्छतब्राह्मणघातजम् ॥३१२॥

अपने घर पर विश्वास करके और भय रहित हो शत्रु भी आवे तो जो व्यक्ति उसे मारता है उसे सौ ब्राह्मणों के मारने की हत्या का पाप लगता है ॥३१२॥

तदभयप्रदानं दत्त्वा मत्सकाशमानीयतां येनाऽस्याऽऽगमनकारणं पृच्छामि। अथाऽसौ सर्वैरपि विश्वास्याऽभयप्रदानं दत्त्वा मदोत्कटसकाशमानीतः प्रणम्योपविष्टश्च। ततस्तस्य पृच्छतस्तेनाऽऽत्मवृत्तान्तः सार्थभ्रंशसमुद्भवो निवेदितः।

सो उसे अभय-दान देकर मेरे पास ले आओ जिससे उसके आने का कारण पूछूँ। तब सब उसे विश्वास दिला कर अभयदान देकर मदोत्कट के पास ले आए और वह प्रणाम कर बैठ गया। उसके प्रश्न करने पर उसने साथी (सार्थवाह, बनियों) से छूटने का अपना वृत्तान्त निवेदन किया।

ततः सिंहेनोक्तम्—'भोः क्रथनक ! मा त्वं ग्रामं गत्वा भूयोऽपि भारोद्वहनकष्टभागी भूयाः। तदत्रैवाऽरण्ये निर्विशङ्को मरकतसदृशानि शष्पाग्राणि भक्षयन् मया सह सदैव वस।' सोऽपि 'तथा' इत्युक्त्वा तेषां मध्ये विचरन् न कुतोऽपि भयमिति सुखेनाऽऽस्ते।

सिंह ने कहा—हे क्रथनक ! अब तुम गाँव में जाकर पुनः बोझ ढोने का कष्ट मत सहो। और इसी वन में निर्भय होकर मरकतमणि के समान तृण (हरी-हरी घास) के अग्रभागों का भक्षण करते हुए मेरे साथ सर्वदा रहो। वह भी 'अच्छा' कह कर घूमने फिरने और निश्चिन्त हो उसके बीच में सुख से रहने लगा।

तथाऽन्येद्युर्मदोत्कटस्य महागजेनाऽरण्यचारिणा सह युद्धमभवत्। ततस्तस्य दन्तमुसलप्रहारैर्व्यथा सञ्जाता। व्यथितः कथमपि प्राणैर्न

वियुक्तः। अथ शरीरासामर्थ्यान्न कुत्रचित् पदमपि चलितुं शक्नोति। तेऽपि सर्वे काकादयोऽप्रभुत्वेन क्षुधाविष्टाः परं दुःखं भेजुः।

तब किसी दूसरे दिन मदोत्कट का किसी जङ्गली बड़े हाथी से युद्ध हुआ। तदनन्तर उसके दन्त रूपी मूसल के प्रहार से उसको बड़ी पीड़ा हुई। पीड़ित होने पर भी किसी प्रकार उसके प्राण बच गए। किन्तु शरीर की असमर्थता के कारण एक पग भी चल न सकता था। वे सब कौए आदि भी प्रभु के शक्ति-हीन होने पर भूख से पीड़ित होकर बड़ा दुःख पाने लगे।

अथ तान् सिंहः प्राह—'भोः! अन्विष्यतां कुत्रचित् किञ्चित् सत्त्वं येनाऽहमेतामपि दशां प्राप्तस्तद्धत्वा युष्मद्भोजनं सम्पादयामि।' अथ ते चत्वारोऽपि भ्रमितुमारब्धा यावन्न किञ्चित् सत्त्वं पश्यन्ति तावद्वायस-श्रृगालौ परस्परं मन्त्रयतः।

तब उनसे सिंह ने कहा—'अरे! कहीं से कोई जन्तु ढूँढ़ो, जिससे मैं ऐसी दशा में प्राप्त होने पर भी उसे मार कर तुम सबको भोजन दूँ।' तब वे चारो भी घूमने लगे जब किसी भी जन्तु को न देखा तब कौआ, और सियार दोनों आपस में सलाह करने लगे।

श्रृगाल आह—'भो वायस! किं प्रभूतभ्रान्तेन? अयमस्माकं प्रभोः क्रथनको विश्वस्तस्तिष्ठति। तदेनं हत्वा प्राणयात्रां कुर्मः।' वायस आह—'युक्तमुक्तं भवता। परं स्वामिना तस्याऽभयप्रदानं दत्तमास्ते न वध्यो-ऽयमिति।'

सियार ने कहा—'अरे भाई कौआ! बहुत घूमने से क्या लाभ? यह जो हमारे स्वामी का विश्वासपात्र क्रथनक है, उसी को मार कर अपनी जीविका चलावें।' कौए ने कहा—'वाह आपने तो खूब ठीक कहा। परन्तु स्वामी ने तो उसे अभयदान दिया है, इस कारण अब वह मारने के योग्य नहीं है।'

श्रृगाल आह—'भो वायस! अहं स्वामिनं विज्ञाप्य तथा करिष्ये, यथा स्वामी वधं करिष्यति। तत् तिष्ठन्तु भवन्तोऽत्रैव, यावदहं गृहं गत्वा प्रभोराज्ञां गृहीत्वा चाऽऽगच्छामि।' एवमभिधाय सत्वरं सिंह-मुद्दिश्य प्रस्थितः।

सियार ने कहा—'हे कौआ! मैं स्वामी से निवेदन कर वही करूँगा जिससे स्वामी उसका वध कर दें। तब तक तुम यहीं ठहरो जब तक मैं घर जाकर और स्वामी की आज्ञा लेकर अभी आता हूँ।' ऐसा कह कर शीघ्रता से सिंह की ओर चल दिया।

अथ सिंहमासाद्येदमाह—'स्वामिन्! समस्तं वनं भ्रान्त्वा वयमागताः। न किञ्चित् सत्त्वमासादितम्। तत् किं कुर्मो वयम्? सम्प्रति वयं बुभुक्षया पदमेकमपि प्रचलितुं न शक्नुमः। देवोऽपि पथ्याशी वर्तते। तद्यदि देवादेशो भवति तत् क्रथनकपिशितेनाऽद्य पथ्यक्रिया क्रियते।'

तब उसने सिंह के पास पहुँचकर यह कहा—'हे स्वामी! हम लोग समस्त जङ्गल घूम आये। किन्तु कहीं भी कोई भी जीव न मिला। सो अब हम क्या करें? इस समय तो मारे भूख के हम एक पग भी नहीं चल सकते और आपको भी पथ्य ग्रहण करना है। सो यदि महाराज (आप) की आज्ञा हो तो क्रथनक के माँस से आज आपको पथ्य दिया जाय।'

अथ सिंहस्तस्य तद्दारुणं वचनमाकर्ण्य सकोपमिदमाह—'धिक् पापाधम! यद्येवं भूयोऽपि वदसि, ततस्त्वां तत्क्षणमेव वधिष्यामि। यतो मया तस्याऽभयं प्रदत्तम्, तत्कथं व्यापादयामि? उक्तं च—

उसके कठोर वचन को सुनकर सिंह ने कोपयुक्त कहा—अरे अधम पापी! धिक्कार है तुझे! यदि ऐसा पुनः कहेगा तो उसी दम तुझे मार डालूँगा। क्योंकि मैं उसे अभयप्रदान दे चुका हूँ तो फिर उसे कैसे स्वयं मारूँ? कहा है—

न गोप्रदानं न महीप्रदानं न चाऽन्नदानं हि तथा प्रधानम्।
यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम्' ॥३१३॥

गोदान, पृथ्वीदान, अन्नदान उतना प्रधान (महत्त्वपूर्ण) नहीं है जितना विद्वान् लोग कहा करते हैं कि इस संसार में सब दानों में अभयदान ही प्रधान है॥

तच्छ्रुत्वा शृगाल आह—'स्वामिन्! यद्यभयप्रदानं दत्वा वधः क्रियते तदैष दोषो भवति। पुनर्यदि देवपादानां भक्त्या स आत्मनो जीवितव्यं प्रयच्छति तन्न दोषः। ततो यदि स स्वयमेवात्मानं वधाय नियोजयति तद्वध्यः। अन्यथाऽस्माकं मध्यादेकतमो वध्य इति।

यह सुन कर सियार ने कहा—'हे स्वामी ! यदि अभयदान देकर आप उसका वध करें तब आपको दोष होगा। परन्तु यदि महाराज के चरणों में भक्ति के कारण वह आप ही अपने प्राण समर्पण कर दे तो इसमें दोष नहीं लगेगा। सो यदि वह स्वयं ही अपने को वध के लिए आत्मसमर्पण कर दे तब तो वह मारने के योग्य है, अन्यथा (नहीं तो) हम लोगों में से किसी एक को मारिएगा !

यतो देवपादाः पथ्याशिनः क्षुन्निरोधादन्त्यां दशां यास्यन्ति। तत् किमेतैः प्राणैरस्माकं ये स्वाम्यर्थे न यास्यन्ति। अपरं, पश्चादप्यस्माभिर्वह्निप्रवेशः कार्यः, यदि स्वामिपादानां किञ्चिदनिष्टं भविष्यति। उक्तं च—

क्योंकि महाराज (के चरण) भूखे हैं और भूख के रोकने से अन्तिम दशा को प्राप्त होंगे। तो हम लोगों के इन प्राणों से क्या लाभ है जो वे स्वामी के काम में न आये। इसके अतिरिक्त यदि महाराज को कुछ अनिष्ट (अर्थात् मृत्यु) हो जाय तो पीछे हम लोगों को अग्नि में प्रवेश करना ही होगा। कहा है—

यस्मिन् कुले यः पुरुषः प्रधानः स सर्वयत्नैः परिरक्षणीयः।
तस्मिन् विनष्टे कुलसारभूते न नाभिषङ्गे ह्यरयो वहन्ति' ॥३१४॥

जिस वंश में जो मनुष्य प्रधान हो तो उसकी प्रत्येक उपाय से रक्षा करनी चाहिए क्योंकि कुल के सारभूत उस के नाश होने पर शत्रुलोग सब ओर से उसके वंश को दबाते हैं ॥३१४॥

तदाकर्ण्य मदोत्कट आह—'यद्येवं तत् कुरुष्व यद्रोचते।' तच्छ्रुत्वा स सत्वरं गत्वा तानाह—'भोः! स्वामिनो महत्यवस्था वर्तते। तत् किं पर्यटितेन? तेन विना कोऽत्रास्मान् रक्षयिष्यति। तद्गत्वा तस्य क्षुद्रोगात् परलोकं प्रस्थितस्याऽऽत्मशरीरदानं कुर्मः, येन स्वामिप्रसादस्याऽनृणतां गच्छामः।

यह सुन कर मदोत्कट ने कहा—'यदि ऐसा है तो, जो जी में आवे सो करो।' ऐसा सुन कर उसने झटपट जाकर उन सबसे कहा—'अरे! स्वामी की बड़ी विषम अवस्था हो गयी है (अर्थात् अन्तिम अवस्था आ गयी है) सो अब पर्यटन करने से (घूमने फिरने से) क्या लाभ ? उनके बिना अब हमारी कौन रक्षा करेगा ? अतः चल कर भूख के रोग से परलोक जाने वाले स्वामी को अपना २ शरीर दे दें जिससे स्वामी की प्रसन्नता से अपना २ ऋण उतर जाय।

उक्तं च—

कहा है—

आपदं प्राप्नुयात् स्वामी यस्य भृत्यस्य पश्यतः ।
प्राणेषु विद्यमानेषु स भृत्यो नरकं व्रजेत् ॥३१५॥

जिस अनुचर के देखते हुए (अर्थात् उसकी आँखों के सामने ही) स्वामी आपत्ति में फँस जाता है और वह यदि अपने प्राणों के रहते हुए भी उसकी रक्षा न करे तो वह अनुचर नरक में जाता है ॥३१५॥

तदनन्तरं ते सर्वे बाष्पपूरितदृशो मदोत्कटं प्रणम्योपविष्टाः । तान् दृष्ट्वा मदोत्कट आह—'भोः ! प्राप्तं दृष्टं वा किञ्चित् सत्त्वम् ?'

तब वे सब (जाकर), आँखों में आँसू भरकर, मदोत्कट को प्रणामकर, बैठ गए । उनको देखकर मदोत्कट ने कहा—अरे ! कहो तो, कोई जन्तु पाया या देखा कि नहीं ?

अथ तेषां मध्यात् काकः प्रोवाच—'स्वामिन् ! वयं तावत् सर्वत्र पर्यटिताः । परं न किञ्चित् सत्त्वमासादितं दृष्टं वा । तदद्य मां भक्षयित्वा प्राणान् धारयतु स्वामी, येन देवस्याऽऽश्वासनं भवति मम पुनः स्वर्ग-प्राप्तिरिति । उक्तं च—

तब उनमें से कौए ने कहा—'हे स्वामी ! तब से हम लोग सब स्थान में भ्रमण करते रहे परन्तु कहीं कोई जन्तु न पाया और न देखा । सो आज मुझे खाकर स्वामी अपने प्राणों को बचावें जिससे स्वामी को आश्वासन (प्राण-रक्षा) हो और मुझे भी स्वर्ग मिले ।' कहा है—

स्वाम्यर्थे यस्त्यजेत् प्राणान् भृत्यो भक्तिसमन्वितः ।
परं स पदमाप्नोति जरामरणवर्जितम् ॥३१६॥

जो भृत्य भक्ति से परिपूर्ण हो स्वामी के लिए अपने प्राणों को दे देता है तो वह जरामरणरहित परमपद (मोक्ष) को पाता है ॥३१६॥

तच्छ्रुत्वा शृगाल आह—'भोः ! स्वल्पकायो भवान् । तव भक्षणात् स्वामिनस्तावत् प्राणयात्रा न भवति । अपरो दोषश्च तावत् समुत्पद्यते ।

उक्तं च—

इसे सुनकर सियार ने कहा—अहो! तुम्हारा शरीर छोटा है। एक तो तुम्हारे खाने से (हमारे) स्वामी का पेट न भरेगा; और दूसरे *दोष भी होगा। कहा है—

काकमांसं शुनोच्छिष्टं स्वल्पं तदपि दुर्लभम्।
भक्षितेनाऽपि किं तेन? तृप्तिर्येन न जायते ॥३१७॥

एक तो, कौए का मांस और दूसरे, कुत्ते की जूठ और तीसरे थोड़ा तथा दुर्लभ। फिर उसके खाने से क्या लाभ जिससे अपनी तृप्ति भी न हो ॥३१७॥

तद्दर्शिता स्वामिभक्तिर्भवता। गतं चानृण्यं भर्तृपिण्डस्य। प्राप्तश्चोभयलोके साधुवादः। तदपसराग्रतः। अहं स्वामिनं विज्ञापयामि।' तथाऽनुष्ठिते शृगालः सादरं प्रणम्योपविष्टः प्राह च—'स्वामिन्! मां भक्षयित्वाऽद्य प्राणयात्रां विधाय ममोभयलोकप्राप्तिं कुरु। उक्तं च—

सो तुमने स्वामी के प्रति अपनी भक्ति दिखला दी और अपने प्रभु के खाये हुए अन्न के ऋण से उऋण हो गए, और दोनों लोक में धन्य कहलाये। अतः आगे से हटो (जिससे) मैं भी स्वामी से कुछ कहूँ। उसके वैसा करने पर सियार आदर के साथ प्रणाम कर बैठ गया और तब उसने कहा—हे स्वामी! मुझे खाकर आज अपनी प्राणयात्रा कर (पेट भर) मुझे दोनों लोक दीजिए।

स्वाम्यायत्ताः सदा प्राणा भृत्यानामर्जिता धनैः।
यतस्ततो न दोषोऽस्ति तेषां ग्रहणसम्भवः' ॥३१८॥

चूँकि धन देकर स्वामी अपने सेवकों के प्राण खरीद लेते हैं इसलिए वे स्वामी के आधीन हैं। इसलिए इन प्राणों के लेने में किसी प्रकार के दोष की उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥३१८॥

अथ तच्छ्रुत्वा द्वीप्याह—'भोः! साधूक्तं भवता। पुनर्भवानपि स्वल्पकायः स्वजातिश्च। नखायुधत्वादभक्ष्य एव।

यह सुनकर चीता ने कहा—हाँ हाँ! तुमने ठीक कहा। परन्तु तुम भी तो

* शास्त्र में कौए का मांस खाना निषिद्ध बतलाया गया है।

छोटे और सजातीय हो ; ❀ नख तुम्हारा आयुध होने के कारण तुम भी खाने के योग्य नहीं हो।

उक्तं च—

कहा भी है—

नाऽभक्ष्यं भक्षयेत् प्राज्ञः प्राणैः कण्ठगतैरपि।
विशेषात् तदपि स्तोकं लोकद्वयविनाशकम् ॥३१९॥

कण्ठ में प्राण (मरने के एकदम निकट) आ जावे तो भी विद्वान् को चाहिए की अभक्ष्य को भक्षण न करें; उसमें भी विशेष कर उसके छोटा होने से तो दोनों लोक ही बिगड़ जाते हैं ॥३१९॥

तद्दर्शितं त्वयाऽऽत्मनः कौलीन्यम्। अथवा साधु चेदमुच्यते-

सो तुमने अपनी कुलीनता दिखला दी; अथवा यह ठीक ही कहा जाता है—

एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति संग्रहम्।
आदिमध्यावसानेषु न ते गच्छन्ति विक्रियाम् ॥३२०॥

इसीलिए तो राजा लोग कुलीन मनुष्यों का संग्रह करते हैं (अर्थात् अपने दरबार में रखते हैं) क्योंकि कुलीन लोगों के मन में आदि, मध्य और अन्तावस्था (विपत्तिकाल) में भी विकार प्राप्त नहीं होता ॥३२०॥

तदपसराऽग्रतः, येनाऽहं स्वामिनं विज्ञापयामि।' तथाऽनुष्ठिते द्वीपी प्रणम्य मदोत्कटमाह—'स्वामिन्! क्रियतामद्य मम प्राणैः प्राणयात्रा। दीयतामक्षयो वासः स्वर्गे। मम विस्तार्यतां क्षितितले प्रभूततरं यशः। तन्नाऽत्र विकल्पः कार्यः। उक्तं च—

सो आगे से हटो; जिससे मैं भी (अपने) स्वामी से निवेदन करूँ। उसके वैसा करने (हटने) पर चीता ने प्रणाम कर मदोत्कट से कहा—'स्वामी! आज मेरे प्राण से आप अपने प्राण बचाइए। और मुझे स्वर्ग में सदैव के लिए वास दीजिए। और संसार में बड़ा यश फैलाइए और अब इस सम्बन्ध में कुछ भी विकल्प (सन्देह) मत कीजिए। कहा है—

❀ जिन पशुओं का नख आयुध होता है उनका भक्षण करना शास्त्र से निषिद्ध है।

मृतानां स्वामिनः कार्ये भृत्यानामनुवर्तिनाम् ।
भवेत् स्वर्गेऽक्षयो वासः कीर्तिश्च धरणीतले' ॥३२१॥

जो आज्ञा–पालक अनुचर स्वामी के कार्य में अपने प्राण को छोड़ते हैं वे स्वर्ग में बहुत समय तक रहते हैं और संसार में उनकी (क्षय-रहित) कीर्ति (ख्याति) भी होती है ॥३२१॥

तच्छ्रुत्वा क्रथनकश्चिन्तयामास–'एतैस्तावत् सर्वैरपि शोभनानि वाक्यानि प्रोक्तानि । न चैकोऽपि स्वामिना विनाशितः । तदहमपि प्राप्तकालं विज्ञापयामि, येन मम वचनमेते त्रयोऽपि समर्थयन्ति ।' इति निश्चित्य प्रोवाच–'भोः ! सत्यमुक्तं भवता । परं भवानपि नखायुधः, तत् कथं भवन्तं स्वामी भक्षयति ?

यह सब सुन कर क्रथनक ने विचार किया कि 'इन सबों ने अच्छी २ बातें कही हैं; परन्तु किसी को भी स्वामी ने नहीं मारा है । सो मैं भी समयानुसार प्रार्थना करूँ, जिससे ये तीनों मेरी बातों का समर्थन करेंगे । इतना विचार कर उसने कहा–'हाँ ! तुमने ठीक कहा; परन्तु तुम भी तो नहवाले हो; तो स्वामी तुम्हें कैसे खायँगे ?'

उक्तं च–

कहा है–

मनसाऽपि स्वजात्यानां योऽनिष्टानि प्रचिन्तयेत् ।
भवन्ति तस्य तान्येव इह लोके परत्र च ॥३२२॥

जो सङ्कल्प मात्र से भी अपनी जाति का अनिष्ट चिन्तन करता है उसको इस लोक एवं परलोक दोनों में वे ही (अनिष्ट) होते हैं ॥३२२॥

तदपसराऽग्रतः, येनाहं स्वामिनं विज्ञापयामि ।' तथानुष्ठिते क्रथनकोऽग्रे स्थित्वा प्रणम्योवाच–'स्वामिन् ! एते तावदभक्ष्या भवताम् । तन्मम प्राणैः प्राणयात्रा विधीयताम्, येन ममोभयलोकप्राप्तिर्भवति ।

सो आगे से हट जाओ, जिससे मैं भी स्वामी से निवेदन करूँ । उसके वैसा करने पर क्रथनक ने आगे खड़ा हो, प्रणाम कर, कहा–'हे स्वामी ! ये सब आप

के भक्षण करने के योग्य नहीं हैं। सो आप मेरे प्राण से अपने प्राण बचाइए जिससे मुझे दोनों लोक की प्राप्ति हो।

उक्तं च—

कहा है—

न यज्वानोऽपि गच्छन्ति तां गतिं नैव योगिनः।
यां यान्ति प्रोज्झितप्राणाः स्वाम्यर्थे सेवकोत्तमाः' ॥३२३॥

न यज्ञ करने वाले और न योगी ही उस गति को प्राप्त करते हैं जिस गति को श्रेष्ठ सेवक अपने स्वामी के लिए प्राणों को छोड़ कर प्राप्त करते हैं ॥३२३॥

एवमभिहिते ताभ्यां शृगालचित्रकाभ्यां विदारितोभयकुक्षिः क्रथनकः प्राणानत्याक्षीत्। ततश्च तैः क्षुद्रपण्डितैः सर्वैर्भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि— 'बहवः पण्डिताः क्षुद्राः' इति।

ऐसा कहने पर सियार और बाघ द्वारा पेट फाड़े जाने पर क्रथनक ने अपना प्राण छोड़ दिया। तब उन सब क्षुद्र पण्डितों ने उसे खा डाला। इसी से मैं कहता हूँ 'बहुत से क्षुद्र पण्डितों ने···' इत्यादि।

तद्भद्र ! क्षुद्रपरिवारोऽयं ते राजा मया सम्यग्ज्ञातः। सतामसेव्यश्च। उक्तं च—

अतः हे भद्र ! मैंने अच्छी तरह जान लिया कि तुम्हारे राजा के परिवार (दरबार) में सब नीच ही नीच भरे हैं। इसलिए सज्जनों को चाहिए कि इसकी सेवा न करे। कहा है—

अशुद्धप्रकृतौ राज्ञि जनता नाऽनुरज्यते।
यथा गृध्रसमासन्नः कलहंसः समाचरेत् ॥३२४॥

अशुद्ध † प्रकृतिवाले राजा से जनता प्रसन्न नहीं रहती क्योंकि जिस प्रकार गृद्धों आदि से घिरा हुआ कलहंस (कलप्रधानो हंसः; राजहंस) उत्तम

† प्रकृति = राज्य के सात अङ्ग (१) राजा (२) मन्त्री (३) मित्र-राष्ट्राध्यक्ष 'गृहमन्त्री' (४) अर्थसचिव (५) सेनाध्यक्ष (६) प्रान्तपति 'राज्यपाल' (७) पर्वतीय दुर्ग के अध्यक्ष।

आचरण नहीं कर सकता (उसी प्रकार कलुषित विचार वाले मन्त्रियों से परिवृत राजा भी) ॥३२४॥

तथा च—

और भी—

गृध्राकारोऽपि सेव्यः स्याद्धंसाकारैः सभासदैः ।
हंसाकारोऽपि सन्त्याज्यो गृध्राकारैः स तैर्नृपः ॥३२५॥

यदि गृद्ध के समान आकारवाला राजा हो और हंस के समान आकारवाले उसके सभासद हों तो उसकी सेवा करनी चाहिए । किन्तु यदि हंस के समान आकृतिवाला राजा हो लेकिन गृद्ध के समान आकृतिवाले उसके सभासद हों तो वह त्याज्य है ॥३२५॥

तन्नूनं ममोपरि केनचिद्दुर्जनेनाऽयं प्रकोपितः, तेनैवं वदति । अथवा भवत्येतत् ।

अतएव किसी दुष्ट ने निस्सन्देह मुझ पर इसका कोप करा दिया है । जिससे यह ऐसा कहता है । अथवा यह होता है ।

उक्तं च—

कहा भी है—

मृदुना सलिलेन खन्यमानान्यवघृष्यन्ति गिरेरपि स्थलानि ।
उपजापविदां च कर्णजापैः किमु चेतांसि मृदूनि मानवानाम् ॥३२६॥

कोमल जल के लगातार आघात से पर्वत-स्थल (पहाड़ की चट्टान, पत्थर) भी घिस जाते हैं, फिर उपजाप (भेद, फोड़ने-फाँसने) में निपुण मनुष्यों के लगातार कानाफूसी करते रहने से पुरुषों के कोमल चित्त कब तक अ-डिग रह सकते हैं ? ॥३२६॥

कर्णविषेण च भग्नः किं किं न करोति बालिशो लोकः ?
क्षपणकतामपि धत्ते पिबति सुरां नरकपालेन ॥३२७॥

कान भरने के विष से बिगड़े हुए नादान लोग क्या नहीं कर डालते ! कोई तो नग्न संन्यास भी धारण कर लेते हैं और नर-कपाल (खप्पर) में मद्यपान भी करने लग जाते हैं ? ॥३२७॥

अथवा साध्विदमुच्यते—

अथवा ठीक ही कहा जाता है:—

पादाहतोऽपि दृढदण्डसमाहतोऽपि
यं दंष्ट्रया स्पृशति तं किल हन्ति सर्पः।
कोऽप्येष एव पिशुनोऽस्त्यमनुष्यधर्मा
कर्णे परं स्पृशति हन्ति परं समूलम् ॥३२८॥

चरणों द्वारा कुचले जाने और मजबूत डण्डे द्वारा आहत होने पर भी सर्प जिसे दाँतों से डँस लेता है उसकी मृत्यु निस्सन्देह हो जाती है। किन्तु यह चुगुलखोर कैसा असाधारण जीव है जो एक के तो कान में लगता (डँसता) है, लेकिन दूसरे का समूल नाश करता है ॥३२८॥

तथा च—

और भी—

अहो खलभुजङ्गस्य विपरीतो बधक्रमः।
कर्णे लगति चैकस्य प्राणैरन्यो वियुज्यते ॥३२९॥

बड़े आश्चर्य की बात है कि इस चुगलखोर रूप सर्प के मारने का उपाय ही भिन्न प्रकार का है। यह एक के कान में लगता (डँसता) है, लेकिन प्राण जाते हैं किसी दूसरे के ॥३२९॥

तदेवं गतेऽपि किं कर्तव्यमित्यहं त्वां सुहृद्भावात् पृच्छामि।' दमनक आह—'तद्देशान्तरगमनं युज्यते। नैवंविधस्य कुस्वामिनः सेवां विधातुम्। उक्तं च—

अतः इस प्रकार होने पर भी अत्र क्या करना चाहिए यह मैं तुम से मित्रभाव से पूछता हूँ।' दमनक ने कहा—'दूसरे प्रदेश में चले जाना उचित है, किन्तु इस प्रकार दुष्ट स्वामी की सेवा करना ठीक नहीं।' कहा है—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते' ॥३३०॥

अवलिप्त (मदोन्मत्त) यदि अपने गुरुजन भी हों, कर्तव्य और अकर्तव्य को न जानते हुए कुमार्ग-गामी हो जाँय तो उनका भी परित्याग कर देना चाहिए ॥३३०॥

सञ्जीवक आह—'अस्माकमुपरि स्वामिनि कुपिते गन्तुं न शक्यते, न चान्यत्र गतानामपि निर्वृतिर्भवति। उक्तं च—

सञ्जीवक ने कहा—'हम स्वामी के कुपित होने पर अन्यत्र नहीं जा सकते; और न हमे अन्यत्र जाने पर सुख ही मिल सकता है।' कहा है—

महतां योऽपराध्येत दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत्।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू ताभ्यां हिंसति हिंसकम् ॥३३१॥

जो बड़े लोगों का अपराध करता है और दूर भाग कर यह विचार करे कि 'मैं दूर हूँ' वह मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकता तो भी बच नहीं सकता क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्यों के बाहु बड़े दीर्घ होते हैं (जो दूर स्थित वस्तु के ग्रहण करने में समर्थ होते हैं) अतः उस अपराधी का नाश ही कर डालते हैं ॥३३१॥

तद्युद्धं मुक्त्वा मे नान्यदस्ति श्रेयस्करम्। उक्तं च—

सो युद्ध छोड़कर मेरे लिए और कोई श्रेयस्कर मार्ग नहीं रह गया है। कहा है—

न तान् हि तीर्थैस्तपसा च लोकान्
स्वर्गैषिणो दानशतैः सुवृत्तैः।
क्षणेन यान् यान्ति रणेषु धीराः
प्राणान् समुज्झन्ति हि ये सुशीलाः ॥३३२॥

स्वर्ग की कामना करनेवाले मनुष्य तीर्थ, तप, सैकड़ों दान, एवं सुशील आचरण करने पर भी उन लोकों में नहीं जा सकते जिनमें धैर्यवान् और सुशील मनुष्य युद्ध में अपने प्राणों को छोड़ कर क्षण भर में चले जाते हैं ॥३३२॥

मृतैः सम्प्राप्यते स्वर्गो जीवद्भिः कीर्तिरुत्तमा।
तदुभावपि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥३३३॥

(संग्राम में) मृत्यु के होने पर स्वर्ग मिलता है और (युद्ध विजय कर) जीने से उत्तम कीर्ति मिलती है; ये दोनों गुण (स्वर्गलाभ एवं कीर्तिलाभ) वीरों को बड़े दुर्लभ हैं ॥३३३॥

ललाटदेशे रुधिरं स्रवत्तु शूरस्य यस्य प्रविशेच्च वक्त्रे।
तत्सोमपानेन समं भवेच्च संग्रामयज्ञे विधिवत् प्रदिष्टम् ॥३३४॥

जिस वीर पुरुष के ललाट स्थान से रक्त बहता हुआ उसके मुख में प्रवेश करे वह संग्राम रूपी यज्ञ में विधिवत् सोमपान के तुल्य होता है—ऐसा धर्मशास्त्र में कहा गया है ॥३३४॥

तथा च।
और भी—

होमार्थैर्विधिवत् प्रदानविधिना सद्विप्रवृन्दार्चनै-
यंज्ञैर्भूरिसुदक्षिणैः सुविहितैः सम्प्राप्यते यत्फलम्।
सत्तीर्थाश्रमवासहोमनियमैश्चान्द्रायणाद्यैः कृतैः
पुम्भिस्तत्फलमाहवे विनिहतैः सम्प्राप्यते तत्क्षणात्॥३३५॥

विधिवत् होम, प्रकृष्ट दान, विद्वान् ब्राह्मण समूहों की पूजा करने, और बड़ी २ दक्षिणावाले यज्ञों के करने और श्रेष्ठ तीर्थ, आश्रम वास, होम (अग्निहोत्रानुष्ठान), नियम (इन्द्रिय निग्रहादि) तथा चान्द्रायणादि व्रत-विशेष करने से पुरुषों को जो फल प्राप्त होता है वही फल संग्राम में निहत होने (मरने) पर उसी क्षण मिल जाता है ॥३३५॥

तदाकर्ण्य दमनकश्चिन्तयामास—'युद्धाय कृतनिश्चयोऽयं दृश्यते दुरात्मा। तद्यदि कदाचित् तीक्ष्णशृङ्गाभ्यां स्वामिनं प्रहरिष्यति तन्महाननर्थः सम्पत्स्यते। तदेनं भूयोऽपि स्वबुद्ध्या प्रबोध्य तथा करोमि, यथा देशान्तरगमनं करोति।' आह च—'भो मित्र! सम्यगभिहितं भवता। किन्तु कः स्वामि-भृत्ययोः संग्रामः? उक्तं च—

उसे सुन कर दमनक ने सोचा कि 'इस दुष्टात्मा ने तो लड़ने का निश्चय कर लिया है; यदि कहीं तीखे सींगों से स्वामी पर प्रहार कर बैठे तो महान् अनर्थ हो जायगा। अतः इसे एक बार फिर भी अपनी बुद्धि से समझा कर वैसा कुछ करूँ जिससे यह दूसरे देश में चला जाय।' उसने फिर (प्रकट) कहा—'हे मित्र! तुमने ठीक कहा, किन्तु स्वामी और सेवक का संग्राम कैसा?' कहा है—

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा किलाऽऽत्मानं प्रगोपयेत्।
बलवद्भिश्च कर्तव्या शरच्चन्द्रप्रकाशता॥३३६॥

प्रबल शत्रु को देखकर जैसे हो अपने को अच्छी तरह बचा लेना चाहिए।

और स्वयं सबल होने पर शरद् ऋतु के चन्द्र के समान अपना प्रकाश फैलाना चाहिए अर्थात् शान्ति पूर्वक रहना चाहिए ॥२३६॥

अन्यच्च—

और भी—

शत्रोर्विक्रममज्ञात्वा वैरमारभते हि यः ।
स पराभवमाप्नोति समुद्रष्टिट्टिभाद्यथा' ॥२३७॥

जो अपने शत्रु के विक्रम को न जानकर विरोध (आन्दोलन) छेड़ देता है वह उसी प्रकार पराभव को प्राप्त करता है जैसे टिट्टिभ से समुद्र ॥२३७॥

सञ्जीवक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

सञ्जीवक ने कहा—'यह किस प्रकार कथा है ? उसने कहा—

(कथा १२)

कस्मिंश्चित् समुद्रतीरैकदेशे टिट्टिभदम्पती प्रतिवसतः स्म । ततो गच्छति काले ऋतुसमयमासाद्य टिट्टिभी गर्भमाधत्त । अथाऽऽसन्नप्रसवा सती सा टिट्टिभमूचे—'भोः कान्त ! मम प्रसवसमयो वर्तते । तद्विचिन्त्यतां किमपि निरुपद्रवं स्थानम्, येन तत्राऽहमण्डकविमोक्षणं करोमि ।'

किसी सागर के तट के एक स्थल पर टिट्टिभ और टिट्टिभी (टिटिहरी) रहा करती थी । कुछ समय के व्यतीत होने पर ऋतुकाल को प्राप्त कर टिटिहरी ने गर्भ धारण किया । तब प्रसव काल के निकट होने पर उसने टिट्टिभ से कहा—'हे प्राणनाथ ! मेरे प्रसव का काल समीप आ गया है । अतः कोई उपद्रवरहित स्थान खोजिए जहाँ अण्डे दूँ ।'

टिट्टिभः प्राह—'भद्रे ! रम्योऽयं समुद्रप्रदेशः । तदत्रैव प्रसवः कार्यः । साऽऽह—'अत्र पूर्णिमादिने समुद्रवेला चरति । सा मत्तगजेन्द्रानपि समाकर्षति । तद्दूरमन्यत्र किञ्चित् स्थानमन्विष्यताम् ।' तच्छ्रुत्वा विहस्य टिट्टिभः प्राह—'भद्रे ! न युक्तमुक्तं भवत्या । का मात्रा समुद्रस्य यो मम दूषयिष्यति प्रसूतिम् । किं न श्रुतं भवत्या ?

टिट्टिभ ने कहा—'कल्याणि ! यह समुद्रप्रदेश अत्यन्त रमणीक है; इसलिए

यहीं प्रसव कार्य करो।' उसने कहा—'इस स्थान पर पूर्णिमा के दिन समुद्र की लहर आती है। जो बड़े-बड़े मतवाले हाथियों को भी (समुद्र गर्भ में) खींच ले जाती है! सो कहीं दूर अन्य स्थान खोजिए।' यह सुनकर हँसकर टिट्टिभ ने कहा—'सुन्दरी! तुमने ठीक नहीं कहा, समुद्र का क्या सामर्थ्य है जो मेरी सन्तति को दूषित करे। क्या तुमने यह नहीं सुना है?

बद्धाम्बरचरमार्गं व्यपगतधूमं सदा महद्भयदम्।
मन्दमतिः कः प्रविशति हुताशनं स्वेच्छया मनुजः? ॥३३८॥

कोई ऐसा मूढ़ मनुष्य मिल सकता है जो आकाश में उड़ने वाले पक्षियों के मार्ग रोकनेवाले और धुआँ से शून्य (अर्थात् तीव्र प्रज्वलित) महा-भयङ्कर हुताशन (अग्नि) में अपनी इच्छा से प्रवेश कर सके? ॥३३८॥

मत्तेभकुम्भविदलनकृतश्रमं सुप्तमन्तकप्रतिमम्।
यमलोकदर्शनेच्छुः सिंहं बोधयति को नाम? ॥३३९॥

यमलोक का दर्शन करने की इच्छा रखने वाला कौन ऐसा व्यक्ति होगा—जो मतवाले गज-समूह के गण्डस्थल के विदीर्ण करने में परिश्रम करने के बाद, सोते हुए और काल की प्रतिमा के समान, सिंह को जगा सके? ॥३३९॥

को गत्वा यमसदनं स्वयमन्तकमादिशत्यजातभयः।
'प्राणानपहर मत्तो यदि शक्तिः काचिदस्ति तव' ॥३४०॥

कौन ऐसा व्यक्ति है जो स्वयं यमलोक में जाकर निर्भय हो अन्तक (यम) से कहे कि 'यदि तुम्हारे में कुछ शक्ति हो तो मेरे प्राणों को हरण कर'? ॥३४०॥

*प्रालेयलेशमिश्रे मरुति प्राभातिके च वाति जडे।
गुणदोषज्ञः पुरुषो जलेन कः शीतमपनयति? ॥३४१॥

कौन ऐसा गुण-दोष का ज्ञाता पुरुष होगा जो तुषार संवलित (बर्फ से मिश्रत) और अत्यन्त शीतल प्रातःकालीन वायु के बहने पर उस शीत को जल से निवारण करने का प्रयत्न करे? ॥३४१॥

तस्माद्विश्रब्धाऽत्रैव गर्भं मुञ्च। उक्तं च—

अतः निःशङ्क होकर यहीं पर गर्भ का त्याग करो। कहा है—

१ 'तुषारस्तुहिनं हिमम्। प्रालेयं मिहिका च' इत्यमरः।

य: पराभवसन्त्रस्तः स्वस्थानं सन्त्यजेन्नरः ।
तेन चेत् पुत्रिणी माता तद्वन्ध्या केन कथ्यते ? ॥३४२॥

जो मनुष्य पराजय के भय से अपने स्थान को छोड़ता है, ऐसे व्यक्ति के होने से यदि माता पुत्रवती कही जाय तो फिर वन्ध्या किस (पुत्र) से कही जायगी ? ॥३४२॥

तच्छ्रुत्वा समुद्रश्चिन्तयामास—'अहो ! गर्वः पक्षिकीटस्याऽस्य । अथवा साध्विदमुच्यते—

इसे सुनकर समुद्र ने विचार किया 'अरे ! इस पक्षि-कीट (भुनगे के समान नीच पक्षी) को इतना अहंकार है । अथवा ठीक ही कहा है—

उत्क्षिप्य टिट्टिभः पादावास्ते भङ्गभयाद्दिवः ।
स्वचित्तकल्पितो गर्वः कस्य नाऽत्रापि विद्यते ? ॥३४३॥

'कहीं हमारे ऊपर आकाश न टूट कर गिर पड़े' इस आशङ्का से टिट्टिभ अपने पैरों को ऊपर करके सोता है । भला इस संसार में किस मनुष्य को अपने चित्त से कल्पना किया हुआ अहंकार नहीं होता ? ॥३४३॥

तन्मयाऽस्य प्रमाणं कुतूहलादपि द्रष्टव्यम् । किं ममैषोऽण्डापहारे कृते करिष्यति ?' इति चिन्तयित्वा स्थितः । अथ प्रसवानन्तरं प्राणयात्रार्थं गतायाष्टिट्टिभ्याः समुद्रो वेलाव्याजेनाऽण्डान्यपजहार ।

'सो मैं इसके प्रमाण (निदर्शन, उदाहरण अर्थात् बल) को कुतूहलपूर्वक (निहायत शौक के साथ) देखूँगा । मेरे अण्डे हरण कर लेने पर देखें यह क्या करेगा ?' ऐसा सोच कर वहीं रह गया । और प्रसव के बाद अपनी प्राणयात्रा (आहार) के लिए टिटिहरी के कहीं चले जाने पर समुद्र ने लहर के बहाने अण्डों को अपहरण कर लिया ।

अथाऽऽयाता सा टिट्टिभी प्रसवस्थानं शून्यमवलोक्य प्रलपन्ती टिट्टिभमूचे—'भो मूर्ख ! कथितमासीन्मया ते यत् समुद्रवेलयाऽण्डानां विनाशो भविष्यति । तद्दूरतरं व्रजावः । परं मूढतयाऽहङ्कारमाश्रित्य मम वचनं न करोषि । अथवा साध्विदमुच्यते—

तदनन्तर जब वह टिटिहरी लौट कर आयी तो अपने प्रसवस्थल को शून्य

देख कर प्रलाप करती हुई, टिट्टिभ से कहने लगी—'अरे मूर्ख ! मैंने पूर्व में ही तुमसे कहा ही था, कि समुद्र की लहर से अण्डों का नाश हो जायगा, सो बहुत दूर चलें, परन्तु मूर्खता के कारण अभिमान का आश्रय लेकर तुमने मेरी बातें न मानीं ।' अथवा ठीक ही कहा है—

सुहृदां हितकामानां न करोतीह यो वचः ।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति' ॥३४४॥

इस जगत् में जो पुरुष अपनी भलाई करनेवाले सुहृदों की बात नहीं सुनता वह दुर्बुद्धि, काठ से गिरे हुए कछुए की भाँति, नष्ट हो जाता है ॥३४४॥

टिट्टिभ आह—'कथमेतत् ?' साऽब्रवीत्—

टिट्टिभ ने कहा—'यह किस प्रकार ?' टिटिहरी ने कहा—

(कथा १३).

अस्ति कस्मिंश्चिज्जलाशये कम्बुग्रीवो नाम कच्छपः । तस्य च सङ्कट-विकटनाम्नी मित्रे हंसजातीये परमस्नेहकोटिमाश्रिते नित्यमेव सरस्तीर-मासाद्य तेन सहाऽनेकदेवर्षिमहर्षीणां कथाः कृत्वाऽस्तमयवेलायां स्वनीड-संश्रयं कुरुतः ।

किसी जलाशय में कम्बुग्रीव नाम का एक कछुआ रहता था । उसके सङ्कट और विकट नाम के हंस जाति के दो मित्र, मित्रता की उच्च कोटि (पराकाष्ठा) के स्वरूप के तुल्य थे जो नित्य सरोवर के तट पर आकर, उसके साथ विविध देवर्षियों एवं महर्षियों की कथा कहते और सायङ्काल के समय अपने वासस्थान (घोंसला) का आश्रय ग्रहण करते थे ।

अथ गच्छता कालेऽनावृष्टिवशात् सरः शनैः शनैः शोषमगमत् । ततस्तद्दुःखदुःखितौ तावूचतुः—'भो मित्र ! जम्बालशेषमेतत् सरः[1] सञ्जातम् । तत् कथं भवान् भविष्यतीति व्याकुलत्वं नो हृदि वर्तते ।'

कुछ समय के व्यतीत होने पर, वृष्टि न होने के कारण सरोवर धीरे धीरे सूखने लगा । तब उसके दुःख से दुःखित उन दोनों हंसों ने कहा—'हे मित्र !

१ जम्बालशेषं कर्दमावशिष्टं । "निषद्वरस्तु जम्बालः पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ" इत्यमरः ।

इस सरोवर में अब तो कीचड़ मात्र शेष रह गया है सो अब आप इस में किस प्रकार रहेंगे ? इस बात की आकुलता हमारे हृदय में हो रही है।'

तच्छ्रुत्वा कम्बुग्रीव आह—'भोः! साम्प्रतं नास्त्यस्माकं जीवितव्यं जलाभावात्। तथाप्युपायश्चिन्त्यतामिति।

यह सुनकर कम्बुग्रीव ने कहा—'अरे भाई! इस समय जल के अभाव से मैं जीवित नहीं रह सकता। तथापि कोई उपाय सोचिए।

उक्तं च—

कहा है—

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले
धैर्यात् कदाचिद्गतिमाप्नुयात् सः।
यथा समुद्रेऽपि च पोतभङ्गे
सांयात्रिको वाञ्छति तर्तुमेव ॥३४५॥

विकलावस्था में (शोकादि से उत्पन्न होने पर) धैर्य का त्याग न करना चाहिये, कदाचित् उसे धैर्य से कोई गति (उपाय, रास्ता) मिल ही जाय; जिस प्रकार समुद्र में पोतभङ्ग होने (जहाज टूटने पर) पर भी पोत-वणिक् (धैर्य रखकर) तैरने (पुनः व्यापार करने) की इच्छा करते हैं ॥३४५॥

अपरं च—

और भी—

मित्रार्थे बान्धवार्थे च बुद्धिमान् यतते सदा।
जातास्वापत्सु यत्नेन जगादेदं वचो मनुः ॥३४६॥

आपत्ति के उपस्थित होने पर भी मित्र के लिए और बान्धवों के लिए, यत्नपूर्वक बुद्धिमान प्रयत्न करे—इस वाक्य को मनु भगवान् ने कहा है ॥३४६॥

तदन्विष्यतां च प्रभूतजलसनाथं सरः, आनीयतां काचिद्दृढरज्जुर्लघु काष्ठं वा। येन मया मध्यप्रदेशे दन्तैर्गृहीते सती युवां कोटिभागयोस्तत्काष्ठं मया सहितं संगृह्य तत्सरो नयथः।'

सो अधिक जल से परिपूर्ण कोई सरोवर ढूँढिए और कोई मजबूत रस्सी

१ इसी तन्त्र का २१६ वां श्लोक देखिए।

अथवा हलकी लकड़ी लाइए जिससे मेरे उसके बीच का हिस्सा अपने दाँतों से पकड़ लेने पर आप उसके दोनों कोटिभागों (प्रान्तभागों, किनारों) को पकड़कर मुझे अपने सहित उस सरोवर में ले चलिए।

तावूचतुः—'भो मित्र ! एवं करिष्यावः। परं भवता मौनव्रतेन स्थातव्यम्। नो चेत् तव काष्ठात् पातो भविष्यति।'

उन दोनों ने कहा—'हे मित्र! ऐसा ही किया जायगा। परन्तु आप मौन धारण किए रहिएगा, अन्यथा आप लकड़ी से छूटकर गिर पड़ेंगे।'

तथाऽनुष्ठिते गच्छता कम्बुग्रीवेणाऽधोभागव्यवस्थितं किञ्चित् पुरमालोकितम्। तत्र ये पौरास्ते तथा नीयमानं विलोक्य सविस्मयमिदमूचुः—'अहो! चक्राकारं किमपि पक्षिभ्यां नीयते, पश्यत पश्यत।'

वैसा करने (अर्थात् हलकी लकड़ी लाने) पर उसको लेकर हंस उड़े। कम्बुग्रीव ने नीचे की ओर स्थित कोई नगर देखा। वहाँ के नागरिकों ने उसको उस प्रकार लिए जाते हुए देखकर साश्चर्य कहा—अरे! देखो, देखो तो, यह क्या चक्र के आकार की (गोल-गोल) वस्तु दो पक्षी लिए जा रहे हैं।

अथ तेषां कोलाहलमाकर्ण्य कम्बुग्रीव आह—'भोः, किमेष कोलाहलः?' इति वक्तुमना अर्धोक्ते पतितः, पौरैः खण्डशः कृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'सुहृदां हितकामानाम्' इति। तथा च।

तब उनका कोलाहल सुनकर कम्बुग्रीव ने कहा—'अरे! यह कैसा कोलाहल है?' ऐसा कहने वाला ही था कि आधी बात कहते ही गिर पड़ा और नगरनिवासियों ने उसे टुकड़े टुकड़े कर डाला। इसीलिए मैं कहता हूँ—'भलाई करने वाले सुहृदों का' इत्यादि। और भी—

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति॥३४७॥

'अनागतविधाता' (अनुपस्थित विषय का प्रतिकर्ता यानी भविष्य का विचार कर कर्म करने वाला), और 'प्रत्युत्पन्नमति' (कालोचित विपत्प्रतीकार में समर्थ अर्थात् विपत्ति उपस्थित होने पर उसके प्रतिकार के लिए अच्छी बुद्धि लगाने वाला)—ये दोनों प्रकार के मनुष्य सुख से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। 'यद्भविष्य'

(जो भाग्य में होगा वह होगा—इस प्रकार भाग्य के ऊपर निर्भर होने के कारण उसके प्रतिकार से पराङ्मुख व्यक्ति) नष्ट हो जाता है ॥३४७॥

टिट्टिभ आह—'कथमेतत्' ? साऽब्रवीत्—

टिट्टिभ ने पूछा—'यह कथा किस प्रकार है ?' उसने कहा—

कथा (१४)

कस्मिंश्चिज्जलाशयेऽनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिर्यद्भविष्यश्चेति त्रयो मत्स्याः सन्ति । अथ कदाचित् तं जलाशयं दृष्ट्वा गच्छद्भिर्मत्स्यजीविभिरुक्तम्—'यदहो ! बहुमत्स्योऽयं ह्रदः । कदाचिदपि नाऽस्माभिरन्वेषितः । तदद्य तावदाहारवृत्तिः सञ्जाता । सन्ध्यासमयश्च संवृत्तः । ततः प्रभातेऽत्राऽऽगन्तव्यमिति निश्चयः ।'

किसी तालाब में अनागतविधाता, प्रत्युत्पन्नमति और यद्भविष्य नाम की तीन मछलियाँ रहा करती थीं । एक समय मत्स्य-जीवियों (मछुवों) ने, उस तालाब को देख कर, जाते हुए कहा 'अरे ! इस तालाब में बहुत सी मछलियाँ हैं और हमने कभी इसे नहीं ढूँढ़ा । आज तो आहार वृत्ति (भोजन भर) मिल चुकी और सन्ध्या भी हो गयी है, सो कल प्रभातकाल यहाँ अवश्य आना चाहिए ।'

ततस्तेषां तत् कुलिशपातोपमं वचः समाकर्ण्याऽनागतविधाता सर्वान् मत्स्यानाहूयेदमूचे—'अहो ! श्रुतं भवद्भिर्यन्मत्स्यजीविभिरभिहितम् । तद्रात्रावपि गम्यतां किञ्चिन्निकटं सरः । उक्तं च—

तब उनके इस वज्रपात के सदृश वचन को सुनकर, अनागत-विधाता ने सब मछलियों को बुलाकर कहा 'अरे ! कुछ सुना तुम लोगों ने, जो मछुवों ने कहा है ? सो बस रात ही रात दूसरे समीप के किसी तालाब में चल दो । कहा है—

> अशक्तैर्बलिनः शत्रोः कर्तव्यं प्रपलायनम् ।
> संश्रितव्योऽथवा दुर्गो नाऽन्या तेषां गतिर्भवेत् ॥३४८॥

सबल शत्रुओं के आक्रमण होने पर दुर्बलों को भाग जाना चाहिए, अथवा दुर्ग (गढ़, किला) का आश्रय ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उन (दुर्बलों) के

लिए (भागने और छिपने के अतिरिक्त) अन्य कोई तीसरी गति (उपाय) नहीं है ॥३४८॥

तन्नूनं प्रभातसमये मत्स्यजीविनोऽत्र समागम्य मत्स्यसंक्षयं करिष्यन्ति। एतन्मम मनसि वर्तते। तन्न युक्तं साम्प्रतं क्षणमप्यत्राऽवस्थातुम्। उक्तं च

सो निश्चय ही कल प्रातःकाल ये मछुए लोग यहाँ आकर मछलियों का नाश करेंगे—यह बात मेरे मन में आती है। सो अब यहाँ क्षणभर भी ठहरना उचित नहीं है। कहा भी है—

विद्यमाना गतिर्येषामन्यत्राऽपि सुखावहा।
ते न पश्यन्ति विद्वांसो देहभङ्गं कुलक्षयम् ॥३४९॥

जिन मनुष्यों को किसी अन्य स्थान पर सुख से गति (उपाय) मिल जाय तो ऐसे विद्वान् निज शरीर का क्षय और अपने वंश का नाश नहीं देख सकते ॥३४९॥

तदाकर्ण्य प्रत्युत्पन्नमतिः प्राह—'अहो ! सत्यमभिहितं भवता। ममाऽप्यभीष्टमेतत्। तदन्यत्र गम्यताम्' इति।

इसे सुनकर प्रत्युत्पन्नमति ने कहा—'हाँ ! आप ने यह ठीक कहा, मुझे भी यह अभीष्ट है (अर्थात् मैं भी यही चाहती हूँ)। सो कहीं दूसरे स्थान में चलना चाहिए।

उक्तं च—

कहा है—

परदेशभयाद्भीता बहुमाया नपुंसकाः।
स्वदेशे निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥३५०॥

परदेश के भय से भयभीत हो, बहुमाया वाले (अतिशय ममताशाली), नपुंसक, कौए, भीरु, और हिरण—ये पाँचों स्वदेश ही में पञ्चत्व (मृत्यु) लाभ करते हैं ॥३५०॥

यस्याऽस्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात् स्वदेशरागेण हि याति नाशम्।
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति' ॥३५१॥

जिस मनुष्य के लिए सर्वत्र गति (उपाय) है वह स्वदेश के प्रेम से क्यों नाश होने जाय; 'यह मेरे पिता का बनवाया कुआँ है' ऐसा कहनेवाले कापुरुष (आलसी) व्यक्ति ही—खारा पानी पीते हैं ॥३५१॥

अथ तत्समाकर्ण्य प्रोच्चैर्विहस्य यद्भविष्यः प्रोवाच—'अहो! न भवद्भ्यां मन्त्रितं सम्यगेतदिति, यतः, किं वाङ्मात्रेणापि तेषां पितृपैतामहिकमेतत् सरस्त्यक्तुं युज्यते। यद्यायुःक्षयोऽस्ति तदन्यत्र गतानामपि मृत्युर्भविष्यत्येव। उक्तं च—

इसके अनन्तर यह सुनकर उच्चस्वर से (खिलखिला के) हँस कर यद्भविष्य ने कहा—'अरे! तुम लोगों ने अच्छी तरह विचार (सलाह) नहीं किया। क्या उन मछुओं के कहने ही से यह बाप-दादों का तालाब छोड़ देना उचित है! यदि आयु बीत गयी है तो दूसरे स्थान पर जाने पर भी लोगों की मृत्यु होगी ही। कहा है—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥३५२॥

यत्न से अपरिपालित पुरुष भाग्य के सहारे जीवित रहता है; किन्तु यत्न से पालित व्यक्ति भाग्य से उपेक्षित (अरक्षित) हो स्थित नहीं रह सकता; क्योंकि वन में छोड़ा हुआ अनाथ भी जी जाता है, किन्तु लाख यत्न करने पर भी घर पर नहीं जीता ॥३५२॥ (इसी तन्त्रका २० वाँ श्लोक देखिए)

तदहं न यास्यामि। भवद्भ्यां च यत् प्रतिभाति तत् कर्तव्यम्।'

सो मैं तो (अन्यत्र) नहीं जाऊँगा; तुम दोनों को जो अच्छा लगे सो करो।'

अथ तस्य तं निश्चयं ज्ञात्वाऽनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिश्च निष्क्रान्तौ सह परिजनेन। अथ प्रभाते तैर्मत्स्यजीविभिर्जालैस्तज्जलाशयमालोड्य यद्भविष्येण सह तत्सरो निर्मत्स्यतां नीतम्। अतोऽहं ब्रवीमि 'अनागतविधाता च' इति।

ऐसा उसका निश्चय जानकर अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमति अपने-अपने कुटुम्बी जनों के सहित वहाँ से चल दिये। दूसरे दिन प्रातःकाल उन मछुवों ने जाल से उस तालाब को हिण्डोल कर यद्भविष्य समेत उस तालाब को मछली-

से रहित कर दिया। इसी से मैं कहती हूँ 'अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमति ....'इत्यादि।

तच्छ्रुत्वा टिट्टिभ आह—'भद्रे! किं मां यद्भविष्यसदृशं सम्भावयसि? तत्पश्य मे बुद्धिप्रभावं, यावदेनं दुष्टसमुद्रं स्वचञ्च्वा शोषयामि।' टिट्टिभ्याह—'अहो! कस्ते समुद्रेण सह विग्रहः? तन्न युक्तमस्योपरि कोपं कर्तुम्। उक्तं च—

यह सुनकर टिट्टिभ ने कहा—'हे कल्याणी! क्या मुझे यद्भविष्य के सदृश समझती हो? सो मेरे बुद्धिःप्रभाव को तब लों देखते रहना जब लों मैं इस दुष्ट समुद्र को अपनी चोंच से सोखा न डालूँ!' टिटिहरी ने कहा—'अरे! समुद्र के साथ तुम्हारा विग्रह कैसा? सो यह उचित नहीं है कि उसके ऊपर आप क्रोध करें। कहा है—

पुंसामसमर्थानामुपद्रवायाऽऽत्मनो भवेत् कोपः।
पिठरं ज्वलदतिमात्रं निजपार्श्वानेव दहतितराम् ॥३५३॥

असमर्थ पुरुषों का कोप अपने ही उपद्रव (नाश) के लिए होता है। बहुत जलती हुई थाली अपने पास (शरीर) ही को जलाती है ॥३५३॥

तथा च—

और भी—

अविदित्वाऽऽत्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः।
गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवत्' ॥३५४॥

जो अपनी और शत्रुकी शक्तिका विचार किए बिना ही उत्तेजित होकर सम्मुख जाता है वह अग्नि में पतङ्ग के तुल्य स्वयं नष्ट हो जाता है ॥३५४॥ (इसी तन्त्र के २६० वें श्लोक में देखिए)।

टिट्टिभ आह—'प्रिये! मा मैवं वद। येषामुत्साहशक्तिर्भवति ते स्वल्पा अपि गुरून् विक्रमन्ते। उक्तं च—

टिट्टिभ ने कहा—'प्रिये! ऐसा मत कहो। जिनके पास उत्साह शक्ति (अध्यवसाय) होती है वे छोटे होने पर भी बड़ों पर टूट पड़ते हैं। कहा है—

१ पिठर=स्थाली—'पिठरः स्थाल्युखा कुण्डम्' इत्यमरः।

विशेषात् परिपूर्णस्य याति शत्रोरमर्षणः ।
आभिमुख्यं शशाङ्कस्य यथाऽद्यापि विधुन्तुदः ॥३५५॥

विधुन्तुद (राहु) अब भी जिस प्रकार परिपूर्ण (पूर्णिमा के) चन्द्रमा के सम्मुख जाता है (अर्थात् आक्रमण करता है) उसी प्रकार कोप करने वाला मनुष्य भी विशेषकर परिपूर्ण शत्रु के सम्मुख जाता है ॥३५५॥

तथा च—

और भी—

प्रमाणादधिकस्याऽपि गण्डश्यामभदच्युतेः ।
पदं मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिनः ॥३५६॥

अपने शरीर के परिमाण से अधिक और गण्डस्थल से श्यामवर्ण का मद च्युत करने वाले मतवाले गज (हाथी) के मस्तक पर ही सिंह चरण रखता है ॥३५६॥

तथा च—

और भी—

बालस्याऽपि रवेः पादाः पतन्त्युपरि भूभृताम् ।
तेजसा सह जातानां वयः कुत्रोपयुज्यते ? ॥३५७॥

जिस प्रकार बाल सूर्य की किरणें (पाद) भूभृतों (पर्वतों) के ऊपर गिरती हैं उसी प्रकार तेजशाली लोगों की अवस्था नहीं देखी जाती (क्योंकि कहा है—'तेजस्विनां न वयः समीक्ष्यते') ॥३५७॥

हस्ती स्थूलतरः स चाऽङ्कुशवशः, किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशो ?
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः, किं दीपमात्रं तमः ? ।
वज्रेणाऽपि शतं पतन्ति गिरयः, किं वज्रमात्रो गिरि-
स्तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः ? ॥३५८॥

हाथी अतिशय स्थूलकाय है, किन्तु वह अंकुश के आधीन रहता है, तो क्या अंकुश हाथी के बराबर है ? दीपक के प्रज्वलित होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, तो क्या दीपक अन्धकार के परिमाण का है ? वज्र से सैकड़ों पर्वत गिर जाते हैं, तो क्या वज्र पर्वत के समान है ? (अतः सिद्ध यह हुआ, कि) जिसमें तेजस्विता है वही बलवान् है, स्थूल आकार होने में क्या रखा है ? ॥३५८॥

तदनया चञ्च्वाऽस्य सकलं तोयं शुष्कस्थलतां नयामि। टिट्टिभ्याह—'भोः कान्त! यत्र जाह्नवी नवनदीशतानि गृहीत्वा नित्यमेव प्रविशति, तथा सिन्धुश्च, तत् कथं त्वमष्टादशनदीशतैः पूर्यमाणं तं विप्रुषवाहिन्या चञ्च्वा शोषयिष्यसि? तत् किमश्रद्धेयेनोक्तेन?'

सो इसी (तुच्छ) चोंच से सब जल सुखा कर स्थल कर दूँगा।' टिटिहरी ने कहा—'हे पति! जिसमें नौ सौ नदियों को लेकर गङ्गा नित्य प्रवेश करती है और उसी प्रकार (नौ सौ नदियों को लेकर) सिन्धुनद भी (प्रवेश करता है), सो किस प्रकार तुम अठारह सौ नदियों द्वारा भरे जाने वाले सागर को पानी की एक बूँद ले जाने वाली चोंच द्वारा सुखा सकोगे? अतः इन अविश्वसनीय बातों के कहने से क्या लाभ?

टिट्टिभ आह—'प्रिये!

टिट्टिभ ने कहा—'प्रिये!

अनिर्वेदः श्रियो मूलं चञ्चूर्मे लोहसन्निभा।
अहोरात्राणि दीर्घाणि समुद्रः किं न शुष्यति? ॥३५९॥

उत्साहावलम्बन ही सिद्धि की जड़ है और मेरी चोंच लोहा के समान कठिन है, दिन-रात इतने बड़े होते हैं; क्या (इतने पर भी) समुद्र न सूखेगा? ॥३५९॥

दुरधिगमः परभागो यावत् पुरुषेण पौरुषं न कृतम्।
जयति तुलामधिरूढो भास्वानपि जलदपटलानि' ॥३६०॥

जब तक पुरुष पुरुषार्थ नहीं करता तब तक दूसरे का भाग (विजय) दुर्लभ है (जिस प्रकार) तुलाराशि में प्राप्त हुआ सूर्य ही मेघखण्डों पर विजय लाभ करता है ॥३६०॥

टिट्टिभ्याह—'यदि त्वयाऽवश्यं समुद्रेण सह विग्रहाऽनुष्ठानं कार्यम्, तदन्यानपि विहङ्गमानाहूय सुहृज्जनसहित एवं समाचर। उक्तं च—

टिटिहरी ने कहा—'यदि तुम्हें समुद्र के साथ निश्चय ही विग्रह करना है तो अन्य पक्षियों को बुला कर सुहृज्जनों के समेत इस प्रकार का आचरण करो। कहा है—

बहूनामप्यसाराणां समवायो हि दुर्जयः।
तृणैरावेष्ट्यते रज्जुर्येन नागोऽपि बध्यते ॥३६१॥

बहुत सी सारहीन वस्तुओं का समवाय (समूह) अजेय हो जाता है; (सन) तृणों से बँट कर रस्सी बनायी जाती है, जिससे हाथी भी बाँध लिए जाते हैं।

तथा च—

और भी—

चटका काष्ठकूटेन मक्षिका दर्दुरैस्तथा।
महाजनविरोधेन कुञ्जरः प्रलयं गतः' ॥३६२॥

कठफोरवा और चटका पक्षी, मेढ़क और मक्खी आदि बहुत लोगों के विरोध करने से हाथी का नाश हुआ ॥३६२॥

टिट्टिभ आह—'कथमेतत् ?' सा प्राह—

टिट्टिभ ने कहा—यह किस प्रकार की कथा है ? उसने कहा—

(कथा १५)

कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे चटकदम्पती तमालतरुकृतनिलयौ प्रतिवसतः स्म। अथ तयोर्गच्छता कालेन सन्ततिरभवत्। अन्यस्मिन्नहनि प्रमत्तो वनगजः घर्मार्तश्छायार्थी तमालवृक्षं समाश्रितः। ततो मदोत्कर्षात् तां तस्य शाखां चटकाश्रितां पुष्कराग्रेणाऽऽकृष्य बभञ्ज।

किसी वन के समीप चटक पक्षी का एक जोड़ा तमाल के पेड़ में घोंसला बनाकर रहता था। कुछ दिन बाद उसको बच्चा उत्पन्न हुआ। किसी दूसरे दिन आतप से पीड़ित होकर एक मतवाला हाथी उसी तमाल के पेड़ के नीचे छाया के निमित्त बैठा। तब मद की अधिकता के कारण उसकी शाखा को, जिस पर चटक रहता था, अपनी सूँड़ के अग्रिम भाग से खींच कर, उसने तोड़ डाला।

तस्या भङ्गेन चटकाण्डानि सर्वाणि विशीर्णानि, आयुःशेषतया च चटकौ कथमपि प्राणैर्न वियुक्तौ। अथ चटका स्वाण्डभङ्गाभिभूता प्रलापान् कुर्वाणा न किञ्चित् सुखमाससाद। अत्राऽन्तरे तस्यास्तद्

प्रलापाञ्छ्रुत्वा काष्टकूटो नाम पक्षी तस्याः परमसुहृत् तद्दुःखदुःखितोऽभ्येत्य तामुवाच—'भगवति! किं वृथा प्रलापेन? उक्तं च—

उसके टूट जाने पर चटका के सब अण्डे फूट गये। आयु बाकी रहने के कारण किसी तरह उनके प्राण न गये। तब चटकी अपने अण्डों के फूट जाने से किंकर्तव्यविमूढ़ हो विलाप करने लगी और किसी तरह भी उसे शान्ति न मिली। इसी बीच उसके प्रलाप को सुनकर कठफोरवा नाम का पक्षी जो उसका परम मित्र था, उसके दुःख से दुःखित होकर, उसके पास आकर उससे कहने लगा—'सुलक्षणे! अब वृथा प्रलाप क्यों करती हो? कहा है—

> नष्टं मृतमतिक्रान्तं नाऽनुशोचन्ति पण्डिताः।
> पण्डितानां च मूर्खाणां विशेषोऽयं यतः स्मृतः ॥३६३॥

जो वस्तु नष्ट हो गयी, जो मर गया और जो बात हो चुकी—इन तीन विषयों के लिए पण्डित लोग शोक नहीं करते; क्योंकि पण्डितों और मूर्खों में इतनी ही तो विशेषता कही गयी है ॥३६३॥

तथा च—

उसी प्रकार—

> अशोच्यानीह भूतानि यो मूढस्तानि शोचति।
> स दुःखे लभते दुःखं द्वावनर्थौ निषेवते ॥३६४॥

जो मूर्ख इस लोक में शोक न करने योग्य के प्रति शोक करता है; वह दुःख में दुःख पाता है और दो अनर्थों (एक, नष्टादि से उत्पन्न और दूसरे, उसके पश्चात्ताप करने में उपवास आदि) का अनुभव करता है ॥३६४॥

अन्यच्च—

और भी—

> श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः।
> तस्मान्न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याश्च शक्तितः' ॥३६५॥

प्रेत (मृत) को बेबस होकर (इच्छा न रहते हुए भी) अपने सम्बन्धियों द्वारा परित्यक्त श्लेष्माश्रु (कफ रूपी आँसू) का पान करना पड़ता है, इसलि

मरने पर रुदन करना उचित नहीं है, अपनी शक्ति के अनुसार उसकी क्रिया (और्ध्वदेहिक क्रिया) करनी चाहिए ॥३६५॥

चटका प्राह—'अस्त्वेतत्। परं दुष्टगजेन मदान्मम सन्तानक्षयः कृतः। तद्यदि मम त्वं सुहृत् सत्यस्तदस्य कोऽपि वधोपायश्चिन्त्यताम्। यस्याऽनुष्ठानेन मे सन्ततिनाशदुःखमपसरति।

चटका ने कहा—'यह ठीक है, किन्तु दुष्ट हाथी ने मद (गर्व) से मेरी सन्तति का नाश कर डाला है। सो यदि तुम मेरे यथार्थ (वास्तव) में मित्र हो तो इस अधम हाथी के वध करने का कोई उपाय विचार करो; जिसके (मारने की युक्ति) करने से सन्तति नष्ट हो जाने से उत्पन्न मेरा दुःख दूर हो जाय।

उक्तं च—

कहा है—

आपदि येनाऽपकृतं येन च हसितं दशासु विषमासु।
अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये ॥३६६॥'

आपत्ति काल में जिसने अपकार किया और दुरवस्था में जिसने हँसी उड़ाई उन दोनों का अनिष्ट करके मैं ऐसा मानूँगी कि मेरा पुनर्जन्म हुआ है ॥३६६॥

काष्ठकूट आह—'भगवति ! सत्यमभिहितं भवत्या। उक्तं च—

कठफोरवा ने कहा—'हे भगवति ! तुमने सत्य कहा। कहा भी है—

स सुहृद्व्यसने यः स्यादन्यजात्युद्भवोऽपि सन्।
वृद्धौ सर्वोऽपि मित्रं स्यात् सर्वेषामेव देहिनाम् ॥३६७॥

जो दूसरी जाति में उत्पन्न होकर भी आपत्ति में सहायता करे तो वही मित्र है। (वैसे तो) अभ्युदय में (उन्नति के समय) सब देहधारियों के सब ही मित्र हो जाते हैं ॥३६७॥

स सुहृद्व्यसने यः स्यात् स पुत्रो यस्तु भक्तिमान्।
स भृत्यो यो विधेयज्ञः सा भार्या यत्र निर्वृतिः ॥३६८॥

वह मित्र है जो विपत् में सहायता करे; वही पुत्र है जो भक्तिमान् (आज्ञाकारी) है, वही अनुचर है जो अपने कर्तव्य को जाने और वही पत्नी है जो सब प्रकार से सुख दे सके ॥३६८॥

तत् पश्य मे बुद्धिप्रभावम् । परं ममापि सुहृद्भूता वीणारवा नाम मक्षिकाऽस्ति । तत् तामाहूयाऽऽगच्छामि, येन स दुरात्मा दुष्टगजो वध्यते ।'

सो मेरी बुद्धि के प्रभाव को देखो, तो सही । किन्तु मेरी मित्र वीणारवा नाम की एक मक्खी है । सो उसको बुलाकर ले आऊँ, जिससे यह दुरात्मा दुष्ट हाथी मारा जाय ।

अथाऽसौ चटकया सह मक्षिकामासाद्य प्रोवाच—'भद्रे ! ममेष्टेयं चटका केनचिद्दुष्टगजेन पराभूताऽण्डस्फोटनेन । तत् तस्य वधोपायमनुतिष्ठतो मे साहाय्यं कर्तुमर्हसि ।' मक्षिकाऽप्याह 'भद्र ! किमुच्यतेऽत्र विषये ? उक्तं च—

इसके अनन्तर चटका के साथ मक्खी के पास पहुँच कर उसने कहा—'भद्रे ! किसी दुष्ट हाथी ने अण्डे तोड़ कर मेरी मित्र इस चटका को सन्तप्त किया है, तो उसके मारने का कोई उपाय बताकर तुम्हें मेरी सहायता करनी चाहिए ।' मक्खी ने कहा—भद्र ! इस विषय में आप मुझे ऐसा क्यों कहते हैं ? कहा है—

पुनः प्रत्युपकाराय मित्राणां क्रियते प्रियम् ।
यत् पुनर्मित्रमित्रस्य कार्यं मित्रैर्न किं कृतम् ? ॥३६९॥

जो लोग फिर उपकार का बदला पाने की आशा से अपने मित्रों की भलाई करते हैं तो फिर मित्रता का महत्व क्या रह गया ? और अपने मित्र के मित्र का काम तो किसी प्रकार के बदला पाने की आशा न रख कर करनी ही चाहिए । सो यदि किसी मित्र ने इसे भी नहीं किया तो फिर बताओ मित्र ने क्या कर दिया ? अर्थात् कुछ नहीं ॥३६९॥

सत्यमेतत् परं ममाऽपि भेको मेघनादो नाम मित्रं तिष्ठति । तमप्याहूय यथोचितं कुर्मः । उक्तं च—

अच्छी बात है (मैं आपके मित्र की सहायता करूँगी) किन्तु मेरा मेघनाद नाम का एक मेढक मित्र है । अतः उसको बुलाकर जो उचित समझा जाय वह किया जाय । कहा है—

हितैः साधुसमाचारैः शास्त्रज्ञैर्मतिशालिभिः ।
कथञ्चिन्न विकल्पन्ते विद्वद्भिश्चिन्तिता नयाः' ॥३७०॥

अपनी भलाई करने वाले, सच्चरित्र, शास्त्रवेत्ता और मतिमान् विद्वानों से सोची गयी कोई नीति किसी प्रकार से भी व्यर्थ नहीं जा सकती ॥३७०॥

अथ ते त्रयोऽपि गत्वा मेघनादस्याऽग्रे समस्तमपि वृत्तान्तं निवेद्य तस्थुः। अथ स प्रोवाच—'कियन्मात्रोऽसौ वराको गजो महाजनस्य कुपितस्याऽग्रे ? तन्मदीयो मन्त्रः कर्तव्यः।' मक्षिके ! त्वं गत्वा मध्याह्नसमये तस्य मदोद्धतस्य गजस्य कर्णे वीणारवसदृशं शब्दं कुरु, येन श्रवणसुखलालसो निमीलितनयनो भवति । ततश्च काष्ठकूटचञ्च्वा स्फोटितनयनोऽन्धीभूतस्तृषार्तो मम गर्ततटाश्रितस्य सपरिकरस्य शब्दं श्रुत्वा जलाशयं मत्वा समभ्येति। ततो गर्तमासाद्य पतिष्यति, पञ्चत्वं यास्यति चेति। एवं समवायः कर्तव्यो, यथा वैरसाधनं भवति।'

तदनन्तर वे तीनों जाकर मेघनाद के आगे सब बातें कहकर बैठ गये। उसने कहा—एक क्रोधित और भारी (विशाल) जन समुदाय के आगे वह विचारा हाथी क्या वस्तु है ! सो मेरी सलाह से काम कीजिए। हे मक्खी ! तुम कल दोपहर के समय उस मदोद्धत हाथी के कान में वीणा के समान शब्द करो; जिसके करने के बाद सुनने के सुख की अतिशयेच्छा से वह अपनी आँखों को बन्द कर लेगा। तब कठफोरवा जाकर उसकी आँख फोड़ दे। तब आँख का अन्धा होकर, अपने परिवार के सहित प्यास से व्याकुल होकर गड्ढे के पास मेरे शब्द सुनकर, जलाशय समझ कर वह आवेगा। तब गड्ढे के पास पहुँच कर उसमें गिर पड़ेगा और मर जायगा। इस प्रकार कौशल करोगे तब वैर का बदला निकल सकेगा।

अथ तथाऽनुष्ठिते स मत्तगजो मक्षिकागेयसुखान्निमीलितनेत्रः काष्ठकूटहृतचक्षुर्मध्याह्नसमये भ्राम्यन् मण्डूकशब्दानुसारी गच्छन् महान्तं गर्तमासाद्य पतितो मृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'चटका काष्ठकूटेन' इति।

वैसा करने पर (अर्थात् मेघनाद की सलाह के अनुसार कार्य करने के बाद)

आँख बन्द कर लेने पर कठफोरवा ने उसकी आँखें फोड़ दी तब दोपहर के समय टक्कर खाता हुआ और मेढकों के शब्द का अनुसरण करता हुआ उस बड़े गड्ढे के पास पहुँच कर गिर पड़ा और मर गया। इसीसे मैं कहती हूँ—चटका और कठफोरवा से......इत्यादि।

टिट्टिभ आह—'भद्रे ! एवं भवतु। सुहृद्वर्गसमुदायेन समुद्रं शोषयिष्यामि।' इति निश्चित्य बक-सारस-मयूरादीन् समाहूय प्रोवाच—'भोः ! पराभूतोऽहं समुद्रेणाऽण्डकापहारेण। तच्चिन्त्यतामस्य शोषणोपायः ?' ते सम्मन्त्र्य प्रोचुः—'अशक्ता वयं समुद्रशोषणे। तत् किं वृथाप्रयासेन ? उक्तं च—

टिट्टिभ ने कहा—'भद्रे ! जैसा कहती हो इसी तरह किया जायगा; सुहृद्वर्ग को साथ में लेकर मैं सागर को सोख जाऊँगा। ऐसा निश्चय कर उसने बगुले, सारस, मोर आदि को बुलाकर कहा—'हे भाइयो ! समुद्र ने मेरे अण्डों का अपहरण कर मेरा तिरस्कार किया है; अतः आपलोग इसके सुखाने के लिए कोई उपाय सोचिए।' उन्होंने परस्पर सलाह कर कहा—'हम सब समुद्र सोखने में असमर्थ हैं; सो वृथा परिश्रम करने से क्या लाभ ! कहा भी है—

अबलः प्रोन्नतं शत्रुं यो याति मदमोहितः।
युद्धार्थं स निवर्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा ॥३७१॥

यदि दुर्बल जीव मदमोहित होकर प्रबल शत्रु के पास युद्ध करने के लिए जाता है तो वह शीर्णदन्त (टूटे दाँत का) हाथी के समान पराजित होता है। ॥३७१॥ (इसी तन्त्र का २६१ श्लोक देखिए)

तदस्माकं स्वामी वैनतेयोऽस्ति। तत् तस्मै सर्वमेतत् परिभवस्थानं निवेद्यताम्, येन स्वजातिपरिभवकुपितो वैरानृण्यं गच्छति। अथवाऽत्रावलेपं करिष्यति तथापि नास्ति वो दुःखम्। उक्तं च—

सो हमारे स्वामी गरुड हैं, अतः उनसे यह तिरस्कार का विषय निवेदन कर देना चाहिए जिससे अपनी जाति के पराभव के कारण कुपित हुए गरुड शत्रुता का प्रतिशोध करें, अथवा (इसे सुन कर) यदि इसमें गर्व करें तो भी दुःख नहीं मानना चाहिए। कहा है—

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्येऽनुवर्तिनि कलत्रे ।
स्वामिनि शक्तिसमेते निवेद्य दुःखं सुखी भवति ॥३७२॥

अभिन्न हृदय मित्र से, गुणवान् सेवक से, अनुरक्त स्त्री से, और सामर्थ्यवान् प्रभु से अपना दुःख निवेदन कर मनुष्य सुखी होता है ॥३७२॥❀

तद्यामो वैनतेयसकाशं यतोऽसावस्माकं स्वामी ।'

अतः हम लोग गरुड के पास चलें, क्योंकि वह हमारा स्वामी है ।

तथाऽनुष्ठिते सर्वे ते पक्षिणो विषण्णवदना बाष्पपूरितदृशो वैनतेयसकाशमासाद्य करुणस्वरेण फूत्कर्तुमारब्धाः—अहो ! अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम् । अधुना सदाचारस्य टिट्टिभस्य भवति नाथे सति समुद्रेणाऽण्डान्यपहृतानि तत्प्रनष्टमधुना पक्षिकुलम् । अन्येऽपि स्वेच्छया समुद्रेण व्यापादयिष्यन्ते । उक्तं च—

वैसा करने पर दुःखित मुँह कर, आँखों में आँसू भर कर, सब पक्षी वैनतेय के पास पहुँच कर करुण स्वर से चीत्कार करने लगे । 'अरे ! रक्षा करो ! रक्षा करो ! आप जैसे प्रभु के होते हुए भी इस सदाचारी (निरपराध) टिट्टिभ के अण्डों को समुद्र ने हरण कर लिया है । सो अब पक्षी समूह का नाश आ गया है । क्योंकि औरों को भी समुद्र अपनी इच्छा से मार डालेगा । कहा है—

एकस्य कर्म संवीक्ष्य करोत्यन्योऽपि गर्हितम् ।
गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः ॥३७३॥

एक को निन्दित कर्म करते हुए देख कर दूसरे भी वैसा ही करने लग जाते हैं । ऐसा लोगों का भेड़ियाधसान है, किन्तु पारलौकिक धर्म के लिए वे अनुकरण नहीं करते ॥३७३॥

तथा च—

और भी—

चाटुतस्करदुर्वृत्तैस्तथा साहसिकादिभिः ।
पीड्यमानाः प्रजा रक्ष्याः कूटच्छद्मादिभिस्तथा ॥३७४॥

❀ (इसी तन्त्र का ११० वाँ श्लोक देखिए)

(राजा का कर्तव्य है कि) चापलूस, चोर, दुराचारी, दुर्जनों (गुण्डों) तथा सफेदपोश (बदचलन) लोगों से सतायी गयी हुई प्रजा की रक्षा करें ॥३७४॥

प्रजानां धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षितुः।
अधर्मादपि षड्भागो जायते यो न रक्षति ॥३७५॥

❀ प्रजा की रक्षा करने से प्रजा के धर्म का छठा हिस्सा राजा को प्राप्त होता है, लेकिन जब वह प्रजा की रक्षा नहीं करता तब उसे अधर्म का छठा हिस्सा मिलता है ॥३७५॥

प्रजापीडनसन्तापात् समुद्भूतो हुताशनः।
राज्ञः श्रियं कुलं प्राणान्नाऽदग्ध्वा विनिवर्तते ॥३७६॥

प्रजा के सताने के ताप से उत्पन्न हुई ('पाप) अग्नि राजा की लक्ष्मी, कुटुम्ब, और प्राणों को जला कर ही सन्तुष्ट होती है ॥३७६॥

राजा बन्धुरबन्धूनां राजा चक्षुरचक्षुषाम् ।
राजा पिता च माता च सर्वेषां न्यायवर्तिनाम् ॥३७७॥

राजा ही बन्धुरहितों (अनाथों) का बन्धु (मित्र स्वरूप) है, अन्धों का चक्षु (नेत्र-स्वरूप) है और न्याय के पथ से चलने वाले सब लोगों का पिता और माता है ॥३७७॥

फलार्थी पार्थिवो लोकान् पालयेद्यत्नमास्थितः।
दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥३७८॥

फल (ऐहिक तथा पारलौकिक) की कामना करनेवाले राजा को चाहिए की प्रजा का यत्नपूर्वक पालन करे और दान एवं सम्मान करता रहे, जिस प्रकार फल की इच्छा रखने वाला माली प्रयत्नपूर्वक जल-मान और जलदान से अङ्कुरों (पौधों) का पालन करता है ॥३७८॥ †

❀ भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एवं, रात्रिदिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः, षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥
—अभिज्ञानशाकुन्तलम्

† (इसी तन्त्र का २४२ वाँ श्लोक देखिए)

यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्मः प्रयत्नेनाऽभिरक्षितः।
फलप्रदो भवेत् काले तद्वल्लोकः सुरक्षितः ॥३७९॥

जिस प्रकार छोटे से बीज के अंकुर की यत्नपूर्वक रक्षा करने पर, वह समय आने (अर्थात् पेड़ होने) पर फल देता है; उसी प्रकार सुरक्षित प्रजा भी समय पर राजा को फल देती है ॥३७९॥ *

हिरण्य-धान्य-रत्नानि यानानि विविधानि च।
तथाऽन्यदपि यत् किञ्चित् प्रजाभ्यः स्यान्नृपस्य तत्' ॥३८०॥

स्वर्ण, धान्य, मणि, विविध प्रकार के यान और भी जो कुछ है वह सब राजा को प्रजा ही से तो प्राप्त होता है ॥३८०॥ †

अथैवं गरुडः समाकर्ण्य तद्दुःखदुःखितः कोपाविष्टश्च व्यचिन्तयत्—'अहो! सत्यमुक्तमेतैः पक्षिभिः। तदद्य गत्वा तं समुद्रं शोषयामः।' एवं चिन्तयतस्तस्य विष्णुदूतः समागत्याऽऽह—'भो गरुत्मन्! भगवता नारायणेनाऽहं तव पार्श्वे प्रेषितः। देवकार्याय भगवानमरावत्यां यास्यतीति। तत् सत्त्वरमागम्यताम्।'

यह बात सुनकर गरुड़ उनके दुःख से दुःखित हुए और कुपित होकर विचार करने लगे—'अरे! ये पक्षी ठीक ही कह रहे हैं। इसलिए आज ही जाकर उस समुद्र को सोख डालूँगा।' वे इस प्रकार का विचार कर ही रहे थे कि विष्णुदूत ने आकर कहा—'हे गरुड़! भगवान् नारायण ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। देव-कार्य के लिए भगवान् अमरावती (इन्द्रपुरी) जायँगे, सो जल्द आओ।'

तच्छ्रुत्वा गरुडः साऽभिमानं प्राह—'भो दूत! किं मया कुभृत्येन भगवान् करिष्यति? तद्गत्वा तं वद यदन्यो भृत्यो वाहनायाऽस्मत्स्थाने क्रियताम्। मदीयो नमस्कारो वाच्यो भगवतः। उक्तं च—

उसे सुनकर गरुड़ ने अभिमानपूर्वक कहा—'हे दूत! मुझ कुभृत्य से भगवान् का क्या काम होगा? अतः जाकर उनसे कह दो, कि वाहन के लिए

* (इसी तन्त्र का २४६ वाँ श्लोक देखिए)
† (इसी तन्त्र का २४७ वाँ श्लोक देखिए)

किसी अन्य अनुचर को मेरे स्थान पर नियत करलें और भगवान् से मेरा नमस्कार कह देना। कहा है—

योन वेत्ति गुणान् यस्य न तं सेवेत पण्डितः।
न हि तस्मात् फलं किञ्चित् सुकृष्टादूषरादिव' ॥३८१॥

जो जिसके गुणों को नहीं जानता उसकी सेवा पण्डित (नीतिवेत्ता बुद्धिमान) को चाहिए कि न करें। क्योंकि उससे कुछ फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार अच्छी प्रकार से जोती जाय, तो भी ऊसर भूमि से कुछ फल की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥३८१॥ ❀

दूत आह—'भो वैनतेय! कदाचिदपि भगवन्तं प्रति त्वया नैतदभिहितमीदृक्। तत्कथय किं ते भगवताऽपमानस्थानं कृतम्?'

दूत ने कहा कि 'हे गरुड! कभी भी तुमने भगवान् के प्रति इस प्रकार की बातें नहीं कही थी, सो कहो तो सही, भगवान् ने तुम्हारा क्या अपमान किया है?'

गरुड आह—'भगवदाश्रयभूतेन समुद्रेणाऽस्मट्टिट्टिभाण्डान्यपहृतानि। तद्यदि तस्य निग्रहं न करोति तदहं भगवतो न भृत्य इत्येष निश्चयस्त्वया वाच्यः, तद्द्रुततरं गत्वा भवता भगवतः समीपे वक्तव्यम्।'

गरुड ने कहा—'भगवान् के निवासस्थल सागर ने इस टिट्टिभ के अण्डों को हरण कर लिया है, सो यदि वे उसको दण्ड नहीं देंगे तो मैं भी भगवान् का अनुचर नहीं रहूँगा, यह मेरा निश्चय भगवान् से कह देना, अतः शीघ्रातिशीघ्र जाकर भगवान के समीप सब कह देना।'

अथ दूतमुखेन प्रणयकुपितं वैनतेयं विज्ञाय भगवांश्चिन्तयामास—'अहो, † स्थाने कोपो वैनतेयस्य। तत् स्वयमेव गत्वा सम्मानपुरःसरं तमानयामि। उक्तं च—

तब दूत के मुख से गरुड को प्रणय–कुपित (बिगड़ा हुआ) जानकर भगवान् ने विचार किया, अहो! गरुड का कोप करना ठीक ही है अतः स्वयं जाकर स-सम्मान मैं लिवा आऊँ। कहा है—

❀ (इसी तन्त्र का १४८ वाँ श्लोक देखिए)

† 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः।

भक्तं शक्तं कुलीनं च न भृत्यमपमानयेत् ।
पुत्रवल्लालयेन्नित्यं य इच्छेच्छ्रियमात्मनः ॥३८२॥

अनुरक्त, सामर्थवान् एवं सद्वंशोत्पन्न अनुचर का कभी अपमान न करे। जो अपना मङ्गल चाहे तो उसका नित्य, पुत्र के समान, प्रतिपालन करता रहे ॥३८२॥

अन्यच्च—

और भी—

राजा तुष्टोऽपि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति ।
ते तु सम्मानितास्तस्य प्राणैरप्युपकुर्वते' ॥३८३॥

राजा सन्तुष्ट होने पर अनुचरों को केवल धन (पुरस्कार) ही देता है किन्तु वे अनुचर इस तरह सम्मानित होने पर, राजा के लिए अपने प्राणों तक को लगा (न्योछावर कर) देते हैं ॥३८३॥*

इत्येवं सम्प्रधार्य रुक्मपुरे वैनतेयसकाशं सत्वरमगमत् । वैनतेयोऽपि गृहागतं भगवन्तमवलोक्य त्रपाऽधोमुखः प्रणम्योवाच—'भगवन् ! त्वदाश्रयोन्मत्तेन समुद्रेण मम भृत्यस्याऽण्डान्यपहृत्य ममापमानं विहितम् । परं भगवल्लज्जया मया विलम्बितम्, नो चेदेनमहं स्थलान्तरमद्यैव नयामि । यतः स्वामिभयाच्छुनोऽपि प्रहारो न दीयते । उक्तं च—

इस प्रकार विचार कर भगवान् बहुत जल्द रुक्मपुर (गरुडनगर) में गरुड के पास गये । गरुड ने भी स्वयं भगवान् को अपने घर पर आए हुए देखकर लज्जा के कारण नीचा मुँह कर लिया और प्रणाम करके कहा—'भगवन् ! आपका आश्रय पा जाने से उन्मत्त हो समुद्र ने मेरे सेवक के अण्डों को हर कर, मेरा अपमान किया है । इसलिए आपके लिहाज के कारण मैंने विलम्ब किया है, अन्यथा इसे तो मैं आज ही सुखा देता । किन्तु स्वामी के भय से कुत्ते पर भी प्रहार नहीं किया जाता । कहा है—

येन स्याल्लघुता वाऽथ पीडा चित्ते प्रभोः क्वचित् ।
प्राणत्यागेऽपि तत्कर्म न कुर्यात् कुलसेवकः' ॥३८४॥

* (इसी तन्त्र का ९१ वाँ श्लोक देखिए)

जिस कार्य से प्रभु की लघुता (मानहानि) होती हो अथवा स्वामी के चित्त में कुछ सन्ताप उत्पन्न हो तो कुलसेवक (कुलीन भृत्य) को चाहिए कि ऐसा कार्य वह प्राणत्याग तक भी न करे ॥३८४॥

तच्छ्रुत्वा भगवानाह—'भो वैनतेय ! सत्यमभिहितं भवता । उक्तं च—

इसे सुन कर भगवान् ने कहा—'हे वैनतेय ! तुम ठीक कह रहे हो। कहा भी है—

भृत्यापराधजो दण्डः स्वामिनो जायते यतः ।
तेन लज्जापि तस्योत्था न भृत्यस्य तथा पुनः ॥३८५॥

अनुचर के अपराध करने पर, प्रभु को ही दण्ड भोगना पड़ता है। इसलिए उस (दण्डजनित) कार्य से जितनी लज्जा स्वामी को होती है, उतनी लज्जा अनुचर को नहीं होती ॥३८५॥

तदागच्छ, येनाऽण्डानि समुद्रादादाय टिट्टिभं सम्भावयावः । अमरावतीं च गच्छावः ।'

अतः आओ, जिससे समुद्र से अण्डों को लेकर टिट्टिभ को साँत्वना दें और फिर अमरावती को चलें।

तथाऽनुष्ठिते समुद्रो भगवता निर्भर्त्स्याऽऽग्नेयं शरं सन्धायाऽभिहितः—'भो दुरात्मन् ! दीयन्तां टिट्टिभाण्डानि । नो चेत् स्थलतां त्वां नयामि ।' ततः समुद्रेण सभयेन टिट्टिभाण्डानि तानि प्रदत्तानि । टिट्टिभेनाऽपि भार्यायै समर्पितानि । अतोऽहं ब्रवीमि—'शत्रोर्बलमविज्ञाय' इति ।

वैसा करने पर भगवान् ने समुद्र की भर्त्सना की और अग्निबाण का सन्धान कर कहा—'अरे दुरात्मा ! टिट्टिभ के अण्डों को दे अन्यथा मैं तुझे सुखा डालूँगा ।' तब भयभीत होकर समुद्र ने टिट्टिभ के सभी अण्डे दे दिए, और टिट्टिभ ने उन्हें अपनी स्त्री को समर्पित कर दिया। इसी से मैं कहता हूँ—'शत्रु के पराक्रम को बिना समझे......' इत्यादि ।

तस्मात् पुरुषेणोद्यमो न त्याज्यः । तदाकर्ण्य सञ्जीवकस्तमेव भूयोऽपि पप्रच्छ—'भो मित्र ! कथं ज्ञेयो मयाऽसौ दुष्टबुद्धिरिति ? इयन्तं कालं

यावदुत्तरोत्तरस्नेहेन प्रसादेन चाऽहं दृष्टः। न कदाचित् तद्विकृतिर्दृष्टा, तत् कथ्यतां येनाऽहमात्मरक्षार्थं तद्वधायोद्यमं करोमि।'

इसलिए पुरुष को चाहिए कि उद्योग करना न छोड़े। इसको सुनकर सञ्जीवक ने फिर उससे पूछा—'हे मित्र! मैं कैसे समझूँ कि यह दुष्ट बुद्धिवाला है। इतने दिनों तक उसे मैं ने उत्तरोत्तर वर्द्धित प्रेम और प्रसन्नता से देखा। कभी भी विकार नहीं देखा, सो बतलाओ कैसे अपनी रक्षा के लिए उसके वधार्थ उद्यम करूँ?'

दमनक आह—'भद्र! किमत्र ज्ञेयम्? एष ते प्रत्ययः। यदि रक्तनेत्रस्त्रिशिखां भ्रूकुटिं दधानः सृक्किणी परिलेलिहत् त्वां दृष्ट्वा भवति, तद्दुष्टबुद्धिः। अन्यथा सुप्रसादश्चेति। तदाज्ञापय माम्। स्वाश्रयं प्रति गच्छामि। त्वया च यथाऽयं मन्त्रभेदो न भवति, तथा कार्यम्। यदि निशामुखं प्राप्य गन्तुं शक्नोषि तद्देशत्यागः कार्यः। यतः।

दमनक ने कहा—इसको जानने में रखा ही क्या है! यह तुम्हारे ज्ञान के हेतु (यह लक्षण) बतलाता हूँ कि यदि तुम्हें देखते ही लाल २ आँखें, टेढ़ी भौंहे किए और ओष्ठ के किनारों को चाटने लगे तो समझ जाना कि वह दुष्टबुद्धि है; अन्यथा (यह लक्षण न मिले तो) प्रसन्न है ऐसा जान लेना। अब मुझे आज्ञा दीजिए जिससे अपने वासस्थान को चला जाऊँ। तुम भी ऐसा ही करना जिससे हम दोनों की इस गुप्त बात का भण्डाफोड़ न हो। यदि जा सकें तो सायङ्काल के समय इस देश को छोड़ देवें। क्योंकि—

त्यजेदेकं कुलस्याऽर्थे ग्रामस्याऽर्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्याऽर्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥३८६॥

वंश की रक्षा के लिए एक (मनुष्य) को छोड़ देवे, ग्रामवासियों की रक्षा के निमित्त वंश को छोड़ देवे, देशवासियों की रक्षा के लिए ग्रामवासियों को छोड़ देवे, और अपनी रक्षा के लिए पृथ्वी को छोड़ देवे॥३८६॥

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि॥३८७॥

विपत्ति से बचने के लिए धन की रक्षा करे, धन से स्त्रियों की रक्षा करे

और धन तथा स्त्री देकर यदि अपनी जान बचती हो तो अपनी रक्षा अवश्य करे ॥

बलवताऽभिभूतस्य विदेशगमनं तदनुप्रवेशो वा नीतिः, तद्देशत्यागः कार्यः। अथवाऽऽत्मा सामादिभिरुपायैरभिरक्षणीयः। उक्तं च--

सबलों से आक्रान्त होने पर मनुष्य को चाहिए कि विदेशगमन करे अथवा उसकी अधीनता ग्रहण करे—यही नीति है। अतः इस समय देश-परित्याग करना उचित है। अथवा साम-दान आदि उपायों से अपनी रक्षा करनी चाहिए। कहा भी है—

अपि पुत्रकलत्रैर्वा प्राणान् रक्षेत पण्डितः।
विद्यमानैर्यतस्तैः स्यात् सर्वं भूयोऽपि देहिनाम् ॥३८८॥

नीतिकुशल पण्डित को चाहिए कि पुत्र और स्त्री को छोड़कर अपने प्राणों की रक्षा करे; क्योंकि प्राणों के बने रहने से प्राणियों को फिर से (पुत्र, स्त्री आदि) सब हो जाते हैं ॥३८८॥

तथा च--
और भी--

येन केनाप्युपायेन शुभेनाऽप्यशुभेन वा।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥३८९॥

विपत्ति में पड़े हुए अपनी रक्षा अच्छे या बुरे किसी भी प्रकार से करले; फिर शक्तिमान् होकर धर्म का अनुष्ठान करे ॥३८९॥

यो मायां कुरुते मूढः प्राणत्यागे धनादिषु।
तस्य प्राणाः प्रणश्यन्ति तैर्नष्टैर्नष्टमेव तत्' ॥३९०॥

जो मूढ प्राण जाने की आशङ्का से धनादि में ममता रखता है तो उसके प्राण नष्ट हो ही जाते हैं और प्राणों के विनाश होने पर धनादि भी नष्ट ही हैं ॥३९०॥

एवमभिधाय दमनकः करटकसकाशमगमत्। करटकोऽपि तमायान्तं दृष्ट्वा प्रोवाच—'भद्र ! किं कृतं तत्र भवता ?' दमनक आह—'मया तवन्नीतिबीजनिर्वापणं कृतम्, परतो दैवविहितायत्तम्। उक्तं च यतः—

ऐसा कह कर दमनक करटक के पास गया। करटक भी उसे आता हुआ देखकर कहने लगा—'भद्र ! आपने वहाँ क्या किया ? दमनक ने कहा—'मैंने तो भेद नीति रूपी बीजों को अच्छी रीति से बो दिया है; भविष्य दैवके अधीन है। क्योंकि कहा है—

पराङ्मुखेऽपि दैवेऽत्र कृत्यं कार्यं विपश्चिता।
आत्मदोषविनाशाय स्वचित्तस्तम्भनाय च ॥३९१॥

दैव के प्रतिकूल होने पर भी विद्वान् को चाहिए कि अपने दोषों के परिहारार्थ और अपने चित्त के प्रबोधनार्थ इस संसार में जो कर्तव्य हो उसे करता रहे ॥३९१॥

तथा च—

और भी—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः' ॥३९२॥

उद्योगी नरशार्दूल के पास लक्ष्मी स्वयं आती है। 'भाग्य ! भाग्य !' तो कायर पुरुष कहा करते हैं। भाग्य की परवाह न कर अपने सामर्थ्य के अनुकूल पुरुषार्थ करते रहो। यदि प्रयत्न करने पर भी कार्य सिद्ध न हो तो देखना चाहिए कि इसमें क्या दोष रह गया है ? ॥३९२॥

करटक आह—'तत् कथय कीदृक् त्वया नीतिबीजं निर्वापितम् ?' सोऽब्रवीत्—'मयाऽन्योन्यं ताभ्यां मिथ्याप्रजल्पनेन भेदस्तथा विहितो, यथा भूयोऽपि मन्त्रयन्तावेकस्थानस्थितौ न द्रक्ष्यसि। करटक आह—'अहो ! न युक्तं भवता विहितं यत् परस्परं तौ स्नेहार्द्रहृदयौ सुखाश्रयौ कोपसागरे प्रक्षिप्तौ। उक्तं च—

करटक ने पूछा—'अच्छा कहो तो, तुमने किस प्रकार भेद नीति का बीज बोया है ?' उसने कहा—'मैंने परस्पर उन दोनों के, झूठी बातों से इस प्रकार, मन में मैल डाल दिया है कि अब फिर उनको एक स्थान पर बैठकर सलाह करते हुए तुम न देखोगे।' करटक ने कहा—'अहो ! यह आपने अच्छा नहीं

किया जो उन दोनों स्नेहार्द्र हृदय और सुख के आश्रयों (अर्थात् सुख भोगने वाले) को एक दूसरे के क्रोध-सागर में डाल दिया। कहा है—

अविरुद्धं सुखस्थं यो दुःखमार्गे नियोजयेत्।
जन्म-जन्मान्तरं दुःखी स नरः स्यादसंशयम् ॥३९३॥

जो अपने से विरोध न रखनेवाले और सुखी मनुष्य को क्लेशपथ में डालता है वह (मनुष्य) जन्म-जन्मान्तर में दुःख भोगता रहता है—इसमें संशय नहीं ॥३९३॥

अपरं, त्वं यद्भेदमात्रेणाऽपि तुष्टस्तदप्ययुक्तम्, यतः सर्वोऽपि जनो विरूपकरणे समर्थो भवति नोपकर्तुम्। उक्तं च—

और जो तुम उन दोनों में भेद डालकर फूले अङ्ग नहीं समा रहे हो सो भी उचित नहीं है क्योंकि विरोध भाव पैदा करने में तो सभी मनुष्य समर्थ होते हैं, लेकिन उपकार करने में कोई समर्थ नहीं होता। कहा है—

घातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम्।
पातयितुमस्ति शक्तिर्वायोर्वृक्षं न चोन्नमयितुम्' ॥३९४॥

नीच मनुष्य दूसरे का कार्य नष्ट करना ही जानता है, पर दूसरे का काम बनाना नहीं जानता, (जिस प्रकार) वृक्ष को उखाड़ने की शक्ति वायु में है, पर गिरे हुए पेड़ को जमाने में नहीं ॥३९४॥

दमनक आह—'अनभिज्ञो भवान् नीतिशास्त्रस्य। तेनैतद्ब्रवीषि। उक्तं च—

दमनक ने कहा—'आप नीतिशास्त्र से अनभिज्ञ हैं, इसी लिए ऐसा कहते हैं। क्योंकि कहा है—

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिं च प्रशमं नयेत्।
महाबलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते ॥३९५॥

जो अपने शत्रु और व्याधि को उत्पन्न होते ही शान्त नहीं कर देता, वह महाबली होता हुआ भी उसके वृद्धि प्राप्त करने पर, उन (शत्रु और रोग) से मारा जाता है ॥३९५॥

तच्छत्रुभूतोऽयमस्माकं मन्त्रिपदापहरणात्। उक्तं च—

सो मन्त्री का पद हरण करने से वह हमारा शत्रु तुल्य हुआ। कहा है—

> पितृपैतामहं स्थानं यो यस्याऽत्र जिगीषते।
> स तस्य सहजः शत्रुरुच्छेद्योऽपि प्रिये स्थितः ॥२९६॥

इस संसार में जो जिससे अपने बाप-दादे के स्थान (भूमि, अधिकार) को लेना चाहे वह अपनी भलाई भी करता हो तो भी उसकी जड़ काट देनी चाहिए क्योंकि वह उसका सहज (स्वाभाविक) शत्रु है ॥२९६॥

तन्मया स उदासीनतया समानीतोऽभयप्रदानेन यावत् तावदहमपि तेन साचिव्यात् प्रच्यावितः। अथवा साध्विदमुच्यते—

पहले मैं उदासीन (राग द्वेषरहित) भाव से उसे अभयदान देकर लाया, किन्तु बाद में उसने मुझे मन्त्रित्व के पद से च्युत (अलग) कर दिया। यह ठीक ही कहा है—

> दद्यात् साधुर्यदि निजपदे दुर्जनाय प्रवेशं
> तन्नाशाय प्रभवति ततो वाञ्छमानः स्वयं सः।
> तस्माद्देयो विपुलमतिभिर्नावकाशोऽधमानां
> जारोऽपि स्याद्गृहपतिरिति श्रूयते वाक्यतोऽत्र ॥२९७॥

यदि कोई साधु (सरल चित्त) मनुष्य अपने स्थान (पद) पर किसी दुर्जन को बैठा देता है, तो वह उसका ही नाश करके स्वयं ही उस साधु के पद को ले लेने की इच्छा करता है। इसलिए बुद्धिमानों को चाहिए कि दुर्जनों को ऐसा करने का अवकाश ही न दें। ऐसा (भिक्षुपादप्रसारण न्याय से) सुना जाता है कि उपपति (जार) भी कभी गृहपति (घर का मालिक) बन जाता है ॥२९७॥

तेन मया तस्योपरि बधोपाय एष विरच्यते। देशत्यागाय वा भविष्यति। तच्च त्वां मुक्त्वाऽन्यो न ज्ञास्यति। तद्युक्तमेतत् स्वार्थायाऽनुष्ठितम्। उक्तं च यतः—

इसीलिए मैंने उसके बध के लिए पूरे षड्यन्त्र की रचना की है; यदि यह (बध) न हुआ तो देश-त्याग तो होगा ही। सो यह बात तुम्हारे अतिरिक्त और किसी को मालूम न हो सके। जो कुछ मैंने किया है वह स्वार्थ के लिए ठीक ही किया है। क्योंकि कहा है—

निस्त्रिंशं हृदयं कृत्वा वाणीमिक्षुरसोपमाम् ।
विकल्पोऽत्र न कर्तव्यो हन्यात् तत्राऽपकारिणम् ॥३९८॥

हृदय को खड्ग के समान और वाणी को मीठे की तरह बना करके अपने अपकार करने वाले को मारही डालना चाहिए; इसमें (ज़रासा भी इधर-उधर) सन्देह न करे ॥३९८॥

अपरं, मृतोऽप्यस्माकं भोज्यो भविष्यति। तदेकं तावद्वैरसाधनम्, अपरं साचिव्यं च भविष्यति तृप्तिश्च' इति। तद्गुणत्रयेऽस्मिन्नुपस्थिते कस्मान्मां दूषयसि त्वं जाड्यभावात्? उक्तं च--

इसके अतिरिक्त वह मर कर भी हमारा भोज्य पदार्थ होगा। सो एक तो, वैर का बदला चुकेगा और दूसरे मन्त्री की पदवी की प्राप्ति होगी एवं तीसरे, तृप्ति होगी। इसलिए इन तीन गुणों के उपस्थित होने पर भी तुम, जड़ता (मूर्खता) के कारण मुझे क्यों दोष देते हो! कहा है—

परस्य पीडनं कुर्वन् स्वार्थसिद्धिं च पण्डितः ।
मूढबुद्धिर्न भक्षेच्च वने चतुरको यथा' ॥३९९॥

नीतिवेत्ता पण्डित लोग शत्रु को पीड़ा देकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि कर डालते हैं, मूढबुद्धि तो समझ ही नहीं सकता, जिस प्रकार वन में चतुरक नाम के शृगालने किया' ॥३९९॥

करटक आह—'कथमेतत्?' स आह—

करटक ने पूछा—यह कथा किस प्रकार है? उसने कहा—

(कथा १६)

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे वज्रदंष्ट्रो नाम सिंहः। तस्य चतुरक-क्रव्य-मुखनामानौ शृगाल-वृकौ भृत्यभूतौ सदैवाऽनुगतौ तत्रैव वने प्रतिवसतः। अथाऽन्यदिने सिंहेन कदाचिदासन्नप्रसवा प्रसववेदनया स्वयूथाद्भ्रष्टा उष्ट्र्युपविष्टा कस्मिंश्चिद्वनगहने समासादिता। अथ तां व्यापाद्य यावदुदरं स्फोटयति तावज्जीवल्लघुदासेरकशिशुर्निष्क्रान्तः। सिंहोऽपि दासेरक्याः पिशितेन सपरिवारः परां तृप्तिमुपागतः। परं स्नेहाद्बालदासेरकं त्यक्तं गृहमानीयेदमुवाच—'भद्र! न तेऽस्ति मृत्योर्भयं मत्तो नाऽन्यस्मादपि।

ततः स्वेच्छयाऽत्र वने भ्राम्यताम् इति। यतस्ते शङ्कुसदृशौ कर्णौ, ततः 'शङ्कुकर्णो' नाम भविष्यति।'

किसी वन में वज्रदंष्ट्र नाम का एक सिंह रहता था। उसके चतुरक नाम का गीदड़ और क्रव्यमुख नाम का मेड़िया भृत्यभाव से सदा पीछे २ घूमते हुए उसी वन में रहते थे। किसी दूसरे दिन सिंह ने प्रसवकाल समीप वाली और प्रसव पीड़ा के कारण अपने झुण्ड से बिछुड़ी हुई एक ऊँटनी को दुर्गम जंगल में बैठी हुई देखा। उस (ऊँटनी) को मार कर ज्योंही सिंह उसका पेट फाड़ने लगा त्योंही एक छोटा सा ऊँटनीका बच्चा जीवित निकला। सिंह भी स-परिवार ऊँटनी के मांस से तृप्त हो गया। परन्तु प्रेम के कारण निकले हुए ऊँटनी के बच्चे को अपने घर पर ले आकर उसने यह कहा—'भद्र! तुम्हें न मुझसे और न किसी अन्य जन्तु से मारे जाने का डर है। सो अपनी इच्छासे (जहाँ मन में भावे) इस वन में विचरण किया करो। चूँकि तुम्हारे कान शंकु (कील) की भाँति हैं अतः तुम्हारा नाम 'शंकुकर्ण' होगा।

एवमनुष्ठिते चत्वारोऽपि ते एकस्थाने विहारिणः परस्परमनेकप्रकार-गोष्ठीसुखमनुभवन्तस्तिष्ठन्ति। शङ्कुकर्णोऽपि यौवनपदवीमारूढः क्षणमपि न तं सिंहं मुञ्चति। अथ कदाचिद्वज्रदंष्ट्रस्य केनचिद्वन्येन मत्तगजेन सह युद्धमभवत्। तेन मदवीर्यात् स दन्तप्रहारैस्तथा क्षतशरीरो यथा प्रचलितुं न शक्नोति। तदा क्षुत्क्षामकण्ठस्तान् प्रोवाच—'भोः! अन्विष्यतां किञ्चित् सत्त्वं येनाऽहमेवंस्थितोऽपि तं व्यापाद्याऽऽत्मनो युष्माकं च क्षुत्प्रणाशं करोमि।

इस प्रकार अभयप्रदान पाने पर वे चारों एकस्थान में विहार करते हुए, आपस में विविध प्रकार के संलाप सुख का अनुभव करते हुए रहने लगे। धीरे धीरे शंकुकर्ण भी युवावस्था को प्राप्त हुआ और एक क्षण के लिए भी उस सिंह का साथ न छोड़ता था। किसी समय वज्रदंष्ट्र का किसी जङ्गली मतवाले हाथी के साथ संग्राम हुआ। उसके मद-वीर्य से और दाँतों की चोट से उसका शरीर इतना घायल हो गया कि एक पग भी वह चल न सकता था। तब भूख से शुष्क कंण्ठवाला होकर उनसे कहने लगा—अरे! किसी जन्तु को ढूँढ़ो जिससे

मैं इसी प्रकार बैठा हुआ भी उसे मार कर अपनी और तुम लोगों की भूख दूर कर सकूँ।'

तच्छ्रुत्वा ते त्रयोऽपि वने सन्ध्याकालं यावद्भ्रान्ताः, परं न किञ्चित् सत्त्वमासादितम्। अथ चतुरकश्चिन्तयामास—'यदि शङ्कुकर्णोऽयं व्यापाद्यते, ततः सर्वेषां कतिचिद्दिनानि तृप्तिर्भवति। परं नैनं स्वामी मित्रत्वादाश्रयसमाश्रितत्वाच्च विनाशयिष्यति। अथवा बुद्धिप्रभावेण स्वामिनं प्रतिबोध्य तथा करिष्ये यथा व्यापादयिष्यति। उक्तं च—

ऐसा सुनकर वे तीनों (चतुरक, क्रव्यमुख, और शंकुकर्ण) बन में सन्ध्या समय तक घूमते रह गये, किन्तु उन्हें कोई प्राणी न मिला। तब चतुरक ने विचार किया कि यदि यह शंकुकर्ण मार डाला जाय तो कई दिनों तक सबकी तृप्ति होती रहेगी। परन्तु इसे स्वामी मित्रभाव तथा आश्रित होने के कारण न मारेंगे। अथवा बुद्धि के प्रभाव से स्वामी को (उलटा-सीधा) समझा कर ऐसा आचरण करूँगा जिससे वह उसे मार डाले। कहा है—

अवध्यं चाऽथवाऽगम्यमकृत्यं नास्ति किञ्चन।
लोके बुद्धिमतां बुद्धेस्तस्मात् तां विनियोजयेत्' ॥४००॥

जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो बुद्धिमानों की बुद्धि के आगे अप्राप्य और अकृत्य (करने योग्य न) हो। अतः नीतिज्ञ को चाहिए कि बुद्धि का उपयोग करता रहे ॥४००॥

एवं विचिन्त्य शङ्कुकर्णमिदमाह—भोः शङ्कुकर्ण! स्वामी तावत् पथ्यं विना क्षुधया परिपीड्यते। स्वाम्यभावादस्माकमपि ध्रुवं विनाश एव। ततो वाक्यं किञ्चित् स्वाम्यर्थे वदिष्यामि। तच्छ्रूयताम्।'शङ्कुकर्ण आह—'भोः! शीघ्रं निवेद्यतां, येन ते वचनं शीघ्रं निर्विकल्पं करोमि। अपरं स्वामिनो हिते कृते मया सुकृतशतं कृतं भविष्यति।'

ऐसा विचार कर शङ्कुकर्ण से उसने यह कहा—'हे शङ्कुकर्ण! भोजन के बिना स्वामी भूख से पीड़ित हो रहे हैं। स्वामी के न रहने पर हम लोगों का विनाश निश्चय ही है। सो जो कुछ बात स्वामी की भलाई के लिए मैं कहूँ; उसे सुनो।' शङ्कुकर्ण ने कहा—'हे भाई! तुम शीघ्र निवेदन करो, जिससे तुम्हारी

बातें बिना ननु-नच किए ही मान लूँ। इसके अतिरिक्त स्वामी के हित के करने पर मुझे सौगुना पुण्य होगा।'

अथ चतुरक आह—'भो भद्र! आत्मशरीरं द्विगुणलाभेन स्वामिने प्रयच्छ, येन ते द्विगुणं शरीरं भवति, स्वामिनः पुनः प्राणयात्रा भवति।' तदाकर्ण्य शङ्कुकर्णः प्राह—'भद्र! यद्येवं तन्मदीयप्रयोजनमेतत्। उच्यताम् 'स्वाम्यर्थः क्रियतामिति।' परमत्र धर्मः प्रतिभूः।' इति ते विचिन्त्य सर्वे सिंहसकाशमाजग्मुः।

तदनन्तर चतुरक ने कहा—'हे भद्र! अपने शरीर को दुगुने लाभ (व्याज) पर स्वामी को दे दो, जिससे एक तो तुम्हारे शरीर को दुगुना लाभ हो जायगा और स्वामी का आहार भी होगा।' यह सुनकर शङ्कुकर्ण ने कहा—'भद्र! यदि यह ऐसी बात है तो मेरा भी यही विचार है। कहिए 'स्वामी के लिए ऐसा करो।' इसमें धर्म साक्षी (जामिन) है।' वे सब इस प्रकार विचार कर सिंह के पास गए।

ततश्चतुरक आह—'देव! न किञ्चित् सत्त्वं प्राप्तम्। भगवानादित्योऽप्यस्तं गतः। तद्यदि स्वामी द्विगुणं शरीरं प्रयच्छति, ततः शङ्कुकर्णोऽयं द्विगुणवृद्धया स्वशरीरं प्रयच्छति धर्मप्रतिभुवा।' सिंह आह—'भो! यद्येवं तत् सुन्दरतरम्। व्यवहारस्याऽस्य धर्मः प्रतिभूः क्रियताम्' इति।

तब चतुरक ने कहा—'देव! कोई जन्तु नहीं मिला और भगवान् सूर्य भी अस्त हो गये। सो यदि स्वामी अपना शरीर दुगुना लाभ पर दें तो वह शङ्कुकर्ण दुगुनी व्याज वृद्धि से धर्म को (जामिन) साक्षी बना करके अपने शरीर को दे देगा।' सिंह ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो वह बहुत अच्छी है। इस व्यवहार (ऋणग्रहण कर्म) को धर्म को साक्षी बना करके किया जाय।'

अथ सिंहवचनानन्तरं वृकशृगालाभ्यां विदारितोभयकुक्षिः शङ्कुकर्णः पञ्चत्वमुपागतः। अथ वज्रदंष्ट्रश्चतुरकमाह—'भोश्चतुरक! यावदहं नदीं गत्वा स्नानं देवतार्चनविधिं कृत्वाऽऽगच्छामि, तावत् त्वयाऽत्राऽप्रमत्तेन भाव्यम्' इत्युक्त्वा नद्यां गतः।

सिंह के ऐसा कहने के उपरान्त मेड़िये और सियार ने उसकी दोनों कुक्षि

को फाड़ दिया तब शंकुकर्ण पञ्चत्व को प्राप्त हो गया। तब वज्रदंष्ट्र ने चतुरक से कहा— 'हे चतुरक ! जब तक मैं नदी में जाकर स्नान और देव-पूजा करके लौट कर न आ जाऊँ तब तक तुम यहाँ होशियारी (चौकसी) से रहना। ऐसा कहकर नदी में (स्नान करने के लिए) गया।

अथ तस्मिन् गते चतुरकश्चिन्तयामास—'कथं ममैकाकिनो भोज्यो-ऽयमुष्ट्रो भविष्यति ?' इति विचिन्त्य क्रव्यमुखमाह—'भोः क्रव्यमुख ! क्षुधालुर्भवान्। तद्यावदसौ स्वामी नाऽऽगच्छति, तावत् त्वमस्योष्ट्रस्य मांसं भक्षय। अहं त्वां स्वामिनो निर्दोषं प्रतिपादयिष्यामि।' सोऽपि तच्छ्रुत्वा यावत् किञ्चिन्मांसमास्वादयति तावच्चतुरकेणोक्तम्—'भोः क्रव्यमुख ! समागच्छति स्वामी। तत् त्यक्त्वैनं दूरे तिष्ठ, येनाऽस्य भक्षणं न विकल्पयति।'

उसके चले जाने के बाद चतुरक ने सोचा—कौनसा उपाय करूँ कि अकेले मुझ ही को यह ऊँट खाने के लिए मिल जाय। ऐसा विचार कर उसने क्रव्यमुख से कहा—'हे क्रव्यमुख ! आप भूखे हैं। अतः जब तक स्वामी नहीं आते तब तक तुम इस ऊँट के माँस को खाओ। मैं तुम्हें स्वामी से निर्दोष प्रमाणित करूँगा।' वह भी उसे सुन कर ज्योंही कुछ माँस खाया होगा त्योंही चतुरक ने कहा—'हे क्रव्यमुख ! स्वामी आ रहे हैं। इसे छोड़ कर तुम दूर हट जाओ जिससे वे इसके खाये जाने में सन्देह न करें।'

तथाऽनुष्ठिते सिंहः समायातो यावदुष्ट्रं पश्यति तावद्रिक्तीकृतहृदयो दासेरकः। ततो भ्रुकुटिं कृत्वा परुषतरमाह–'अहो ! केनैष उष्ट्र उच्छिष्टतां नीतो, येन तमपि व्यापादयामि ?' एवमभिहिते क्रव्यमुखश्चतुरकमुख-मवलोकयति † किल, यथा, 'तद्वद किञ्चिद्येन मम शान्तिर्भवति' इति प्रतीयते। अथ चतुरको विहस्योवाच—'भोः ! मामनादृत्य पिशितं भक्षयित्वाऽधुना मन्मुखमवलोकयसि ? तदास्वादयाऽस्य दुर्नयतरोः फलम्' इति। तदाकर्ण्य क्रव्यमुखो जीवनाशभयाद्दूरदेशं गतः।

---

† 'किलशब्दस्तु वार्तायां सम्भाव्यानुनयार्थयोः—' इति मेदिनी।

वैसा करने पर सिंह आकर जब ऊँट की ओर देखता है तो उस ऊँट को बिना कलेजा का देखा। तब टेढ़ी भौं करके कड़कते हुए कहा—'अरे ! इस ऊँट को किसने जूँठा कर दिया है जिसके कारण उसे भी मारूँ ?' सिंह के ऐसा कहने पर क्रव्यमुख चतुरक का मुँह सानुनय देखने लगा, जिससे प्रतीत होता था कि (मानों यह कह रहा हो) 'इसके लिए कुछ कहो जिससे मुझे शान्ति मिले ?' तब चतुरक ने हँस कर कहा—'अरे क्रव्यमुख ! उस समय मेरी परवाह न कर तूने माँस खाया, अब मेरे मुख की ओर क्या देखता है ? अब उस अविनय वृक्ष का फल चखो।' ऐसा सुन कर क्रव्यमुख मरण की आशङ्का से दूर देश को चला गया (अर्थात् भाग गया)।

एतस्मिन्नन्तरे तेन मार्गेण दासेरकसार्थो भाराक्रान्तः समायातः। तस्याऽग्रसरोष्ट्रस्य कण्ठे महती घण्टा बद्धा। तस्याः शब्दं दूरतोऽप्याकर्ण्य सिंहो जम्बूकमाह—'भद्र ! ज्ञायतां किमेष रौद्रः शब्दः श्रूयतेऽश्रुतपूर्वः ?'

इसी बीच उस राह से ऊँटों का एक झुण्ड बोझ लदा हुआ आया। उस यूथ के आगे के ऊँट की गर्दन में एक बड़ा घण्टा बँधा हुआ था। उसके शब्द को दूर से सुनकर सिंह ने गीदड़ से कहा—'भद्र ! मालूम तो करो, किसका यह भयङ्कर शब्द सुनाई देता है जैसा कि पहले कभी भी सुना नहीं गया था।'

तच्छ्रुत्वा चतुरकः किञ्चिद्वनान्तरं गत्वा सत्वरमभ्युपेत्य प्रोवाच—स्वामिन् ! गम्यतां गम्यतां यदि शक्नोषि गन्तुम्।' सोऽब्रवीत्—'भद्र ! किमेवं मां व्याकुलयसि ? तत्कथय किमेतत् ?' इति। चतुरक आह—'स्वामिन् ! एष धर्मराजस्तवोपरि कुपितः, यदनेनाऽकाले दासेरकोऽयं मदीयो व्यापादितः। तत्सहस्रगुणमुष्ट्रमस्य सकाशाद्ग्रहीष्यामि' इति निश्चित्य बृहन्मानमादायाऽग्रेसरस्योष्ट्रस्य ग्रीवायां घण्टां बद्ध्वा बध्यदासेरकसक्तानपि पितृपितामहानादाय वैरनिर्यातनार्थमायात एव।'

उसे सुन कर चतुरक बन में थोड़ी दूर जाकर जल्दी से आकर कहने लगा—'स्वामिन् ! भाग जाइए, यदि भाग सकते हों तो भाग जाइए।' उसने कहा—'भद्र ! मुझे क्यों घबड़ाहट में डाल रहे हो (स्पष्ट) कहो कि यह क्या बात है ?' चतुरक ने कहा—स्वामिन् ! यह यमराज तुम्हारे ऊपर कुपित हो गये हैं कि

इसने हमारे एक ऊँट को बिना समय (मरण-काल) के ही मार डाला है अतः उस ऊँट से हजार गुना इस (सिंह) से लूँगा'। ऐसा निश्चय कर बहुत से ऊँटों को लेकर, आगे के ऊँट के गले में घण्टा बाँधकर, और मरे हुए ऊँट के पितृपितामहादि सम्बन्धियों को लेकर वे बदला लेने के लिए आ रहे हैं।

सिंहोऽपि तच्छ्रुत्वा सर्वतो दूरादेवाऽवलोक्य मृतमुष्ट्रं परित्यज्य प्राणभयात् प्रनष्टः। चतुरकोऽपि शनैः शनैस्तस्योष्ट्रस्य मांसं भक्षयामास। अतोऽहं ब्रवीमि—'परस्य पीडनं कुर्वन्' इति।

सिंह भी यह सुनकर चारो ओर बड़ी दूर से ही उन्हें देखकर मरे हुए ऊँट को छोड़कर प्राणों के भय से भाग गया। चतुरक धीरे-धीरे उस ऊँट के माँस को खा गया। इसलिए मैं कहता हूँ—'शत्रु को पीड़ा देकर...' इत्यादि।

अथ दमनके गते सञ्जीवकश्चिन्तयामास—'अहो ! किमेतन्मया कृतम् ? यच्छष्पादोऽपि मांसाशिनस्तस्याऽनुगः संवृत्तः। अथवा साध्विदमुच्यते—

दमनक के चले जाने के बाद सञ्जीवक ने विचार किया कि 'अरे ! यह मैंने क्या किया जो तृणभोजी होकर भी माँसभोजी का अनुचर हुआ। अथवा ठीक ही कहा है—

अगम्यान् यः पुमान् याति असेव्यांश्च निषेवते।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा॥४०१॥

जो पुरुष साथ न करने वाले साथियों का साथ करता है और सेवा के अयोग्य मनुष्य की सेवा करता है, वह मृत्यु को प्राप्त करता है; जिस प्रकार अश्वतरी (खच्चरी) अपनी मृत्यु के लिए गर्भ धारण करती है॥४०१॥

तत्किं करोमि ? क्व गच्छामि ? कथं मे शान्तिर्भविष्यति ? अथवा तमेव पिङ्गलकं गच्छामि। कदाचिन्मां शरणागतं रक्षति। प्राणैर्न वियोजयति। यत उक्तं च—

अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किस प्रकार मेरी शान्ति होगी ? अथवा उसी पिङ्गलक के निकट जाऊँ। कदाचित् मुझ शरणागत की रक्षा कर ले ! और प्राणों से वियोग न करावै (मारे नहीं) क्योंकि कहा है—

धर्मार्थं यततामपीह विपदो दैवाद्यदि स्युः क्वचित्
तत्तासामुपशान्तये सुमतिभिः कार्यो विशेषान्नयः ।
लोके ख्यातिमुपागताऽत्र सकले लोकोक्तिरेषा यतो
दग्धानां किल वह्निना हितकरः सेकोऽपि तस्योद्भवः ॥४०२॥

इस लोक में धर्म के निमित्त चेष्टा करने पर भाग्यवशात् यदि कुछ विपत्ति आ जाय तो बुद्धिमान् मनुष्यों को चाहिए कि उसकी शान्ति के लिए विशेष रीति से न्यायाचरण करें। क्योंकि इस सारे संसार में यह लोकोक्ति (जन-श्रुति) अच्छी तरह से विख्यात हो गयी है कि अग्नि से जले अङ्गों पर उस (अग्नि) से उत्पन्न सेंक ही उपकारी होता है ॥४०२॥

तथा च—

और भी—

लोकेऽथवा तनुभृतां निजकर्मपाकं
नित्यं समाश्रितवतां विहितक्रियाणाम् ।
भावार्जितं शुभमथाऽप्यशुभं निकामं
यद्भावि तद्भवति नाऽत्र विचारहेतुः ॥४०३॥

अथवा जगत् में प्राणियों को सर्वदा अपने उन कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है जो अपनी क्रिया (भला या बुरा) द्वारा किया गया है। क्योंकि शुभ अथवा अशुभ जो स्वकर्मोपार्जित है और जो भावी है वह होगा ही अतः इसमें सोच-विचार की आवश्यकता नहीं है ॥४०३॥

अपरं चाऽन्यत्र गतस्याऽपि मे कस्यचिद्दुष्टसत्त्वस्य मांसाशिनः सकाशान्मृत्युर्भविष्यति। तद्वरं सिंहात्। उक्तं च—

और, अन्यत्र जाकर भी मेरी किसी माँस-भोजी दुष्ट जन्तु से मृत्यु तो होगी ही तब इस सिंह द्वारा ही मरना अच्छा है। कहा है—

महद्भिः स्पर्धमानस्य विपदेव गरीयसी ।
दन्तभङ्गोऽपि नागानां श्लाघ्यो गिरिविदारणे ॥४०४॥

बड़े पुरुषों के साथ भिड़जाने पर यदि विपत्ति भी आजाय तो वह अच्छी है; क्योंकि पर्वत तोड़ते समय यदि हाथियों का दाँत टूट जाय तो भी वह प्रशस्य होता है ॥४०४॥

तथा च—

और भी—

महतोऽपि क्षयं लब्ध्वा श्लाघ्यं नीचोऽपि गच्छति ।
दानार्थी मधुपो यद्वद्गजकर्णसमाहतः' ॥४०५॥

बड़े लोगों के द्वारा यदि तुच्छ जीवों की मौत हो जाय तो वे प्रशंसनीय समझे जाते हैं; जिस प्रकार गज के मदका अभिलाषी भौंरा हाथी के कानों द्वारा ताड़ित होने पर भी प्रशंसनीय माना जाता है ॥४०५॥

एवं निश्चित्य स स्खलितगतिर्मन्दं गत्वा सिंहाश्रयं पश्यन्नपठत्—'अहो ! साध्विदमुच्यते—

ऐसा निश्चयकर लड़खड़ाते हुए धीरे-धीरे जाकर सिंह के वासस्थान को देखकर वह यह पढ़ने लगा—'अहो ! सत्य ही कहा जाता है—

अन्तर्लीनभुजङ्गमं गृहमिव ज्वालाकुलं वा वनं
ग्राहाकीर्णलिवाऽभिरामकमलच्छायासनाथं सरः ।
नानादुष्टजनैरसत्यवचनासक्तैरनार्यैर्वृतं
दुःखेन प्रतिगम्यते प्रचकितैः राज्ञां गृहं वार्धिवत् ॥४०६॥

जिस प्रकार सर्प युक्त गृह में, आग की लपट से घिरे वन में, अथवा सुन्दर कमल की कान्ति से शोभित तथा ग्राह (घड़ियाल) से व्याप्त सुन्दर सरोवर के पास भीत मनुष्य बड़े कष्ट से जाते हैं, उसी प्रकार विविध दुर्जनों, असत्यवादियों और असाधुओं से भरे हुए राजा के भवन रूपी समुद्र में सत्पुरुष अत्यन्त दुःख एवं भय के साथ जाते हैं ॥४०६॥

एवं पठन् दमनकोक्ताऽऽकारं पिङ्गलकं दृष्ट्वा प्रचकितः संवृतशरीरो दूरतरं प्रणामकृतिं विनाऽप्युपविष्टः । पिङ्गलकोऽपि तथाविधं तं विलोक्य दमनकवाक्यं श्रद्दधानः कोपात् तस्योपरि पपात । अथ सञ्जीवकः खरनखरविकर्त्तितपृष्ठः शृङ्गाभ्यां तदुदरमुल्लिख्य कथमपि तस्मादपेतः शृङ्गाभ्यां हन्तुमिच्छन् युद्धायाऽवस्थितः ।

इस प्रकार पढ़ता हुआ दमनक के बताये हुए आकार में पिङ्गलक को देखकर चकित हो गया और अपने शरीर को सम्हाल कर प्रणामक्रिया के बिना किए ही

दूर जाकर बैठ गया। पिङ्गलक भी उसे उस प्रकार देखकर दमनक के वाक्य पर विश्वास कर क्रोध से उसके ऊपर झपटा। तब सञ्जीवक का उसके तीक्ष्ण नख से पीठ फट गया और वह सींगों से उसके उदर में प्रहार कर किसी प्रकार उससे दूर जाकर खड़ा हो गया और सींगों से मारने की इच्छा से लड़ने के लिए खड़ा हो गया।

अथ द्वावपि तौ पुष्पितपलाशप्रतिमौ परस्परवधकांक्षिणौ दृष्ट्वा करटको दमनकमाह—'भो मूढमते! अनयोर्विरोधं वितन्वता त्वया साधु न कृतम्, न च त्वं नीतितत्त्वं वेत्सि। नीतिविद्भिरुक्तं च—

तदनन्तर उन दोनों को (रुधिरस्राव के कारण) विकसित हुए पलास वृक्ष के समान और परस्पर वध की अभिलाषा किए देखकर, करटक ने दमनक से कहा—'अरे मूर्ख! इन दोनों में विरोध बढ़ाकर तुमने अच्छा नहीं किया, और न तुम नीतिशास्त्र के तत्त्व को जानते ही हो। नीतिशास्त्रवेत्ताओं ने कहा है—

कार्याण्युत्तमदण्डसाहसफलान्यायाससाध्यानि ये
प्रीत्या संशमयन्ति नीतिकुशलाः साम्नैव ते मन्त्रिणः।
निःसाराल्पफलानि ये त्वविधिना वाञ्छन्ति दण्डोद्यमै-
स्तेषां दुर्नयचेष्टितैर्नरपतेरारोप्यते श्रीस्तुलाम् ॥४०७॥

जो कष्ट-साध्य, प्रबल संग्राम और साहस फल युक्त कार्यों को प्रीति एवं शान्ति के वाक्यों से ('साम' एवं 'दान' की नीति से) शमन करते हैं वे ही नीतिवक्ता मन्त्री पद के अधिकारी हैं। और जो असार (व्यर्थ) एवं अल्प फल वाले कार्यों के पूरा करने की आकाङ्क्षा अन्याय (भेद नीति) तथा युद्धोद्योग (दण्ड नीति) से करते हैं उनके अन्यायाचरण से राजलक्ष्मी ही खतरे में पड़ जाती है ॥ ४०७ ॥

यद्यदि स्वाम्यभिघातो भविष्यति, तत् किं त्वदीयमन्त्रबुद्धया क्रियते? अथ सञ्जीवको न बध्यते, तथाऽप्यभव्यम्। यतः प्राणसन्देहात् तस्य च वधः। तन्मूढ! कथं त्वं मन्त्रिपदमभिलषसि? सामसिद्धिं न वेत्सि। तद्वृथा मनोरथोऽयं ते दण्डरुचेः। उक्तं च—

अतः यदि हमारे स्वामी का नाश हो गया तो फिर तुम्हारी मन्त्र-बुद्धि से

क्या लाभ ? और यदि सञ्जीवक जीता बच गया तो भी बुरा होगा क्योंकि उससे प्राण संदेह (अर्थात् सञ्जीवक के जीनेपर स्वामी का जीवन सन्देह) में रहेगा। अतः उसका वध होना आवश्यक है। इसलिए, हे मूर्ख ! जो तुम सामसिद्धि को (सन्धि से जो सिद्ध हो, उसको) नहीं जानते तब कैसे तुम मन्त्री के पद की इच्छा करते हो। अतः तुम्हारे जैसे युद्ध-लोलुप लोगों का यह मनोरथ करना वृथा है। कहा है—

सामादिदण्डपर्यन्तो नयः प्रोक्तः स्वयम्भुवा।
तेषां दण्डस्तु पापीयांस्तं पश्चाद्विनियोजयेत् ॥४०८॥

ब्रह्मा ने 'साम' से लेकर ('दान', 'भेद') 'दण्ड' तक जितनी नीति बतलायी हैं; उनमें दण्ड नीति, अति निकृष्ट है। अतः उसे बाद में (साम आदि के विफल होनेपर) प्रयोग करनी चाहिए ॥४०८॥

तथा च—

कहा भी—

साम्नैव यत्र सिद्धिर्न तत्र दण्डो बुधेन विनियोज्यः।
पित्तं यदि शर्करया शाम्यति कोऽर्थः पटोलेन ? ॥४०९॥

जहाँ साम द्वारा सिद्धि हो वहाँ राजनीति के विद्वान् को चाहिए कि दण्ड का प्रयोग न करे; यदि चीनी देने ही से पित्त की शान्ति हो जाय तो पटोल (कसैला परवल) देने से क्या आवश्यकता ? ॥४०९॥

तथा च—

और भी—

आदौ साम प्रयोक्तव्यं पुरुषेण विजानता।
सामसाध्यानि कार्याणि विक्रियां यान्ति न क्वचित् ॥४१०॥

नीतिवेत्ता विद्वान् पुरुष को चाहिए कि प्रथम साम का प्रयोग करे क्योंकि साम नीति द्वारा सिद्ध हुए कार्य कभी भी विकार को नहीं प्राप्त होते ॥४१०॥

न चन्द्रेण न चौषध्या न सूर्येण न वह्निना।
साम्नैव विलयं याति विद्वेषिप्रभवं तमः ॥४११॥

यदि किसी शत्रु से तिमिर (द्वेष, अन्धकार) उत्पन्न हो जाय तो वह न

चन्द्र से, न औषधि से, न सूर्य से, न अग्नि से दूर हो सकता है, किन्तु साम (नीति) ही से वह (द्वेष अन्धकार) नष्ट होता है ॥४११॥

तथा यत् त्वं मन्त्रित्वमभिलषसि, तदप्ययुक्तम् । यतस्त्वं मन्त्रिगतिं न वेत्सि । यतः पञ्चविधो मन्त्रः । स च कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्य-सम्पत्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति ।

और तुम जो मन्त्री के पद की अभिलाषा करते हो, वह भी तुम्हारे योग्य नहीं है; क्योंकि तुम मन्त्री के कर्तव्य को नहीं जानते । मन्त्र पाँच प्रकार का होता है । वे ये हैं—

(१) किसी अभीष्ट कार्य के आरम्भ करने के सन्धि-विग्रह आदि उपाय (२) सेना और धन की समृद्धि (३) देश और समय के अनुसार साम-दान दण्ड-भेद का प्रयोग करना (४) अभीष्टकार्य की पूर्ति के मार्ग में आये हुए विघ्न को दूर करना और (५) अभीष्ट कार्यादि को सम्यक् रूप से पूरा करना ।

सोऽयं स्वाम्यमात्ययोरेकतमस्य किं वा द्वयोरपि विनिपातः समुत्पद्यते लग्नः । तद्यदि काचिच्छक्तिरस्ति तद्विचिन्त्यतां विनिपातप्रतीकारः । भिन्न-सन्धाने हि मन्त्रिणां बुद्धिपरीक्षा । तन्मूर्ख ! तत्कर्तुमसमर्थस्त्वं, यतो विपरीतबुद्धिरसि । उक्तं च—

अतः इस स्वामी और अमात्य (पिङ्गलक और सञ्जीवक) में से किसी एक का अथवा दोनों के विनाश होने का समय आ गया है । इसलिए यदि तुम्हारे अन्दर कोई शक्ति हो तो इस विपत्ति को दूर करने का उपाय सोचो । विरोध-भाव दूर करने के समय ही मन्त्रियों की बुद्धि की परीक्षा होती है । सो हे मूर्ख ! तुम उसे करने में असमर्थ हो, क्योंकि तुम उल्टी बुद्धिवाले हो । कहा है—

मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने भिषजां सान्निपातिके ।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा स्वस्थे को वा न पण्डितः ? ॥४१२॥

बिगड़ी बात के बनाने के समय मन्त्रियों की, और सन्निपात ज्वर में वैद्यों की बुद्धि मालूम की जाती है, स्वस्थता (अच्छी हालत) में कौन नहीं पण्डित बन जाता है † ॥ ४१२ ॥

---

† इसी तन्त्र का १३८ वाँ श्लोक देखिए ।

अन्यच्च—

और भी—

घातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम् ।
पातयितुमेव शक्तिर्नाखोरुद्धर्तुमन्नपिटम् ॥४१३॥

नीच मनुष्य दूसरे के कार्य को बिगाड़ना ही जानता है, न कि बनाना। अन्न की पिटारी को गिरा देने की शक्ति चूहे में है, उठाकर रखने में नहीं ॥४१३॥

अथवा न ते दोषोऽयम्। स्वामिनो दोषः, यस्ते वाक्यं श्रद्दधाति। उक्तं च—

अथवा इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है बल्कि स्वामी का दोष है जो तुम्हारे वाक्य में विश्वास करते हैं। कहा है—

नराधिपा नीचजनानुवर्तिनो बुधोपदिष्टेन पथा न यान्ति ये ।
विशन्त्यतो दुर्गममार्गनिर्गमं समस्तसम्बाधमनर्थपिञ्जरम् ॥४१४॥

जो राजा नीच लोगों के मतानुसार कार्य करनेवाले होते हैं वे राजनीतिज्ञों द्वारा प्रदर्शित मार्ग से नहीं चलते। इसलिए वे समस्त बाधाओं से युक्त ऐसे व्यसन (आपत्ति) रूपी पिंजड़े में प्रवेश करते हैं जिसमें से निकलने का कोई राह नहीं ॥ ४१४ ॥

तद्यदि त्वमस्य मन्त्री भविष्यसि, तदान्योऽपि कश्चिन्नाऽस्य समीपे साधुजनः समेष्यति। उक्तं च—

सो यदि तुम इसके मन्त्री होगे तो दूसरा कोई सज्जन (राजनीतिज्ञ) पुरुष इसके पास न आवेगा। कहा है—

गुणालयोऽप्यसन्मन्त्री नृपतिर्नाधिगम्यते ।
प्रसन्नस्वादुसलिलो दुष्टग्राहो यथा ह्रदः ॥४१५॥

(सर्व) गुणों का आगार राजा भी यदि असाधु (कुटिल) मन्त्री से सेवित होता है तो वह मगर से भरे हुए स्वच्छ और सुस्वादु जलवाले सरोवर के समान असेव्य होता है ॥४१५॥

तथा शिष्टजनरहितस्य स्वामिनोऽपि नाशो भविष्यति ।

और शिष्ट (सज्जन) जन रहित होने पर स्वामी का नाश हो जायगा।

उक्तं च—

कहा है—

चित्रास्वादकथैर्भृत्यैरनायासितकार्मुकैः ।
ये रमन्ते नृपास्तेषां रमन्ते रिपवः श्रिया ॥४१६॥

जो राजा तरह-तरह की चिकनी-चुपड़ी कहने वाले और समय पड़ने पर धनुष चलाना न जानने वाले अधिकारियों के साथ मौज उड़ाया करते हैं तो शत्रु लोग उनकी राज्य-लक्ष्मी से रमण करते हैं (अर्थात् उन्हें पराजित कर उनकी सम्पत्ति को हरण कर लेते हैं) ॥ ४१६ ॥

तत् किं मूर्खोपदेशेन ? यतः तत्र केवलं दोषो न गुणः । उक्तं च—

तो मूर्ख को उपदेश देने से क्या लाभ ? क्योंकि उसमें केवल दोष ही रहता है, न कि गुण । कहा है—

नाऽनाम्यं नमते दारु नाऽश्मनि स्यात् क्षुरक्रिया ।
सूचीमुखं विजानीहि नाऽशिष्यायोपदिश्यते ॥४१७॥

न झुकनेवाला काठ टेढ़ा नहीं हो सकता, पत्थर पर क्षुर-क्रिया नहीं होती [अर्थात् उस्तरा पत्थर पर नहीं चलता] और अयोग्य शिष्य को उपदेश नहीं दिया जा सकता; इसमें सूचीमुख का दृष्टान्त समझो ॥४१७॥

दमनक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

दमनक ने कहा—यह कैसी कथा है । उसने कहा—

(कथा १७)

अस्ति कस्मिंश्चित् पर्वतैकदेशे वानरयूथम् । तच्च कदाचिद्धेमन्तसमयेऽतिकठोरवातसंस्पर्शवेपमानकलेवरं तुषारवर्षोद्धतप्रवर्षघनधारानिपातसमाहतं न कथञ्चिच्छान्तिमगमत् । अथ केचिद्वानरा वह्निकणसदृशानि गुञ्जाफलान्यवचित्य वह्निवाञ्छया फूत्कुर्वन्तः समन्तात् तस्थुः ।

किसी पर्वत के एक स्थान पर वानरों का एक समूह रहता था । उस बन्दर समूह को किसी समय हेमन्त ऋतु में बहुत ठण्डी हवा के लगने से कम्पित शरीर वाला हो, पाला की वर्षा के समान बड़ी मूसलधार पानी के बरसने के कारण किसी प्रकार भी सुख नहीं मिलता था । तदनन्तर कुछ बन्दर अग्नि की

चिनगारी के तुल्य गुञ्जाफलों को इकट्ठा कर अग्नि की आकांक्षा से फूँकते हुए उसके चारो ओर घेर कर बैठ गये।

अथ सूचीमुखो नाम पक्षी तेषां तं वृथाऽऽयासमवलोक्य प्रोवाच—'भोः! सर्वे मूर्खा यूयम्। नैते वह्निकणाः, गुञ्जाफलानि एतानि। तत् किं वृथा श्रमेण? नैतस्माच्छीतरक्षा भविष्यति। तदन्विष्यतां कश्चिन्निर्वातो वनप्रदेशो गुहा वा गिरिकन्दरं वा। अद्याऽपि साटोपा मेघा दृश्यन्ते। अथ तेषामेकतमो वृद्धवानरस्तमुवाच—'भो मूर्ख! किं तवाऽनेन व्यापारेण? तद्गम्यताम्। उक्तं च—

तब, सूचीमुख नाम के एक पक्षी ने उनके उस व्यर्थ परिश्रम को देखकर कहा—'अरे! तुम सब मूर्ख हो। ये आग की चिनगारियाँ नहीं हैं। ये गुञ्जाफल हैं। अतः इस वृथा परिश्रम से क्या लाभ? इससे शीत का बचाव न होगा। सो कोई वायुरहित वन का स्थान, गुहा (पर्वत गह्वर) या पर्वत कन्दरा ढूँढ़ो। अभी भी मेघ की घनघोर घटा (बादल की गर्जना) दिखाई पड़ रही है। तब उनमें से एक वृद्ध बन्दर ने उससे कहा—अरे मूर्ख! तुझसे इससे क्या मतलब? तू चला जा! कहा भी है—

मुहुर्विघ्नितकर्माणं द्यूतकारं पराजितम्।
नाऽऽलापयेद्विवेकज्ञो यदीच्छेत् सिद्धिमात्मनः ॥४१८॥

बार बार कार्य में असफलता पानेवाले और जूआ खेलने में पराजित (हारे हुए) मनुष्य से—बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि यदि अपने कल्याण की अभिलाषा हो तो इनके साथ, (छेड़कर) बातचीत न करे ॥४१८॥

तथा च—

और भी—

आखेटकं वृथाक्लेशं मूर्खं व्यसनसंस्थितम्।
आलापयति यो मूढः स गच्छति पराभवम्' ॥४१९॥

जो मूढ़—मृगयाशील (शिकारी), व्यर्थ परिश्रम करनेवाले, मूर्ख और दुर्व्यसनी मनुष्य से बातचीत करता है, वह पराभव को प्राप्त करता है ॥४१९॥

सोऽपि तमनादृत्य भूयोऽपि वानराननवरतमाह—'भोः! किं वृथा

क्लेशेन ?' अथ यावदसौ न कथञ्चित् प्रलपन् विरमति, तावदेकेन वानरेण व्यर्थश्रमत्वात् कुपितेन पक्षाभ्यां गृहीत्वा शिलायामास्फालित उपरतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—'नाऽनाम्यं नमते दारु' इत्यादि । तथा च—

वह भी उसकी परवाह न कर बार-बार वही बात कहता रहा कि—'अरे ! इस वृथा क्लेश से क्या काम ?' सो वह जब किसी प्रकार भी अपने प्रलाप से नहीं रुका, तब एक वृथाश्रम से कुपित हुए बन्दर ने उसके पंख पकड़कर शिलापर पटक दिया और वह मर गया । इसीलिए मैं कहता हूँ कि 'न झुकने वाला काष्ठ नहीं झुकता...' इत्यादि । और भी—

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।
पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ॥४२०॥

मूर्खों को उपदेश देना उनका कोप बढ़ाना होता है, न कि उन्हें शान्त करने के लिए । जिस प्रकार, सर्पों को दूध पिलाना केवल उनके विष को बढ़ाना है ॥४२०॥

अन्यच्च—

और भी—

उपदेशो न दातव्यो यादृशे तादृशे जने ।
पश्य वानरमूर्खेण सुगृही निर्गृहीकृतः' ॥४२१॥

जैसे-तैसे मनुष्य को उपदेश न देना चाहिए । देखो, मूर्ख बन्दर ने एक अच्छे घर में रहने वाले को बे-घर का बना दिया ॥४२१॥

दमनक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

दमनक ने पूछा—यह कैसी कथा है ? उसने कहा—

(कथा १८)

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे शमीवृक्षः । तस्य लम्बमानशाखायां कृतावासावरण्यचटकदम्पती वसतः स्म । अथ कदाचित् तयोः सुखसंस्थयोर्हेमन्तमेघो मन्दं मन्दं वर्षितुमारब्धः । अत्रान्तरे कश्चिच्छाखामृगो वाताऽऽसारसमाहतः प्रोद्धूषितशरीरो दन्तवीणां वादयन् वेपमान-

स्तच्छमीमूलमासाद्योपविष्टः। अथ तं तादृशमवलोक्य चटका प्राह—'भो भद्र !

किसी वन के एक प्रान्त में एक शमी (जण्डी) का एक वृक्ष था। उसकी लम्बी शाखा में घोंसला बनाकर जङ्गली चटक दम्पति रहा करते थे। किसी समय जब वे सुख से बैठे हुए थे कि हेमन्त ऋतु का मेघ धीरे धीरे बरसने लगा। इसी समय पवन युक्त वृष्टि धारा से ताड़ित, वृष्टि के जल से भींगा हुआ शरीरवाला, दन्तवीणा को बजाता (दाँत कटकटाता) हुआ और काँपता हुआ कोई बन्दर उसी शमीवृक्ष के नीचे आकर बैठ गया। उसकी वैसी अवस्था देखकर चटका ने कहा—'हे भद्र !

हस्तपादसमोपेतो दृश्यसे पुरुषाकृतिः।
शीतेन खिद्यसे मूढ ! कथं न कुरुषे गृहम् ? ॥४२२॥

तुम तो हाथ पैर से युक्त होने से एक पुरुष के सदृश दिखाई पड़ते हो। तब शीत से क्लेश क्यों पा रहे हो, अरे मूर्ख ! रहने के लिए घर क्यों नहीं बना लेते ? ॥४२२॥

एतच्छ्रुत्वा तां वानरः सकोपमाह—'अधमे ! कस्मान्न त्वं मौनव्रता भवसि ? अहो ! धार्ष्ट्यमस्याः। अद्य मामुपहसति।

उसे सुनकर वानर ने क्रोधपूर्वक कहा—'अरी अधमे ! तू चुप क्यों नहीं रहती ? अत्यन्त आश्चर्य की बात है, इसकी धृष्टता तो देखो ! आज यह मेरे ऊपर हँस रही है।

सूचीमुखी दुराचारा रण्डा पण्डितवादिनी।
नाऽशङ्कते प्रजल्पन्ती तत् किमेनां न हन्म्यहम्' ॥४२३॥

सूई के समान मुँहवाली, दुराचारिणी, धूर्ता और अपने को पंडिता माननेवाली जब बकवाद करती हुई नहीं डरती है तो मैं क्यों न इस (चटका) को मार डालूँ ? ॥४२३॥

एवं विचिन्त्य तामाह—'मुग्धे ! किं तव ममोपरि चिन्तया ?

उक्तं च—

ऐसा विचार कर उससे कहा—अरी भोली ! मेरी चिन्ता करने से तुझे क्या लाभ है ? कहा है—

वाच्यं श्रद्धासमेतस्य पृच्छतश्च विशेषतः ।
प्रोक्तं श्रद्धाविहीनस्य अरण्यरुदितोपमम् ॥४२४॥

श्रद्धान्वित हो यदि कोई मनुष्य जिज्ञासा से पूछे तो उससे कहनी चाहिए। श्रद्धाहीन मनुष्यों से कुछ कहना वन में रुदन करने के तुल्य (निष्फल) है ॥४२४॥

तत् किं बहुना तावत् ?' यावत् कुलायस्थितया तयाऽभिहितः स तावत् तां शमीमारुह्य तस्याः कुलायं शतधा खण्डशोऽकरोत्। अतोऽहं ब्रवीमि—'उपदेशो न दातव्यः' इति।

सो बहुत कहने से क्या लाभ ?' ज्योंही घोंसले में बैठी हुई उसने फिर कहा त्योंहीं बानर ने शमी वृक्षपर चढ़कर उसके घोंसले के सौ टुकड़े कर दिये। इसीसे मैं कहता हूं कि 'जैसे तैसे मनुष्य को उपदेश न देना चाहिए' इत्यादि।

तन्मूर्ख ! शिक्षापितोऽपि न शिक्षितस्त्वम्। अथवा न ते दोषोऽस्ति, यतः साधोः शिक्षा गुणाय सम्पद्यते, नाऽसाधोः। उक्तं च—

सो हे मूर्ख (दमनक) ! उपदेश देने पर भी तू न सीख सका। अथवा इसमें तेरा दोष नहीं है; क्योंकि साधु की शिक्षा गुण-दायिनी होती है, न कि असाधु की। कहा है—

किं करोत्येष पाण्डित्यमस्थाने विनियोजितम्।
अन्धकारप्रतिच्छन्ने घटे दीप इवाऽऽहितः ॥४२५॥

कुपात्र को बतलाया हुआ सदुपदेश क्या कर सकता है ? जिस प्रकार अन्धकार से परिपूर्ण घड़े के भीतर रक्खा हुआ दीपक क्या कर सकता है ? ॥४२५॥

तद्व्यर्थपाण्डित्यमाश्रित्य मम वचनमशृण्वन्नाऽऽत्मनः शान्तिमपि वेत्सि। तन्नूनमपजातस्त्वम्। उक्तं च—

सो वृथा पाण्डित्य (अर्थात् मैं ज्ञानी हूँ इस प्रकार के मिथ्याभिमान) का आश्रय ग्रहण कर तुमने मेरी बात न सुनी और जो चित्त की शान्ति जा रही है उसे भी नहीं समझ रहे हो। सो (प्रकट करता है कि) अवश्य ही तू अधम से उत्पन्न हुआ है। कहा है—

जातः पुत्रोऽनुजातश्च अतिजातस्तथैव च ।
अपजातश्च लोकेऽस्मिन् मन्तव्यः शास्त्रवेदिभिः ॥४२६॥

इस संसार में शास्त्रज्ञों के मन्तव्या–(कथना)–नुसार चार प्रकार के पुत्र होते हैं—(१) जात (२) अनुजात (३) अतिजात और (४) अपजात ॥४२६॥

मातृतुल्यगुणो जातस्त्वनुजातः पितुः समः ।
अतिजातोऽधिकस्तस्मादपजातोऽधमाधमः ॥४२७॥

माता के तुल्य गुणवाला पुत्र 'जात', पितृ तुल्य गुणवाला पुत्र 'अनुजात', पिता से अधिक गुणवाला पुत्र 'अतिजात' और अति अधम पुत्र 'अपजात' कहा जाता है ॥४२७॥

अप्यात्मनो विनाशं गणयति न खलः परव्यसनहृष्टः ।
प्रायो मस्तकनाशे समरमुखे नृत्यति कबन्धः ॥४२८॥

दूसरों के दुःख से प्रसन्न होकर दुष्ट अपने विनाश को नहीं गिनता (देखता) है । प्रायः देखा जाता है कि मस्तक के नाश होने पर कबन्ध (छिन्नशिर वाला शरीर, धड़) रणक्षेत्र में नृत्य करता है ॥४२८॥

अहो ! साध्विदमुच्यते—

अहो ! यह सत्य कहा गया है—

धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च द्वावेतौ विदितौ मम ।
पुत्रेण व्यर्थपाण्डित्यात् पिता धूमेन घातितः' ॥४२९॥

धर्मबुद्धि और कुबुद्धि इन दोनों को मैंने जान लिया है । पुत्र (कुबुद्धि) ने अपने व्यर्थ के पाण्डित्य से अग्नि के धुएँ से पिता को मार डाला ॥४२९॥

दमनक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

दमनक ने कहा—यह किस तरह ? उसने कहा—

(कथा १९)

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने* धर्मबुद्धिः पापबुद्धिश्च द्वे मित्रे प्रतिवसतः स्म । अथ कदाचित् पापबुद्धिना चिन्तितम्—'अहं तावन्मूर्खो दारिद्र्योपेतश्च,

* 'अधिष्ठानं चक्रपुरप्रभावाध्यासनेष्वपि' इत्यमरः ।

तदेनं धर्मबुद्धिमादाय देशान्तरं गत्वाऽस्याऽऽश्रयेणाऽर्थोपार्जनं कृत्वैन-मपि वञ्चयित्वा सुखी भवामि।'

किसी नगर में धर्मबुद्धि और पापबुद्धि नाम के दो मित्र रहते थे। एक समय पापबुद्धि ने विचार किया कि 'मैं तो मूर्ख और कङ्गाल हूँ। सो इस धर्मबुद्धि को साथ लेकर दूसरे किसी देश में जाकर इसके सहारे धन कमाऊँ और (बाद में) इसे भी ठग (चकमा दे) कर सुखी होऊँ।'

अथाऽन्यस्मिन्नहनि पापबुद्धिर्धर्मबुद्धिं प्राह—भो मित्र! वार्धकभावे किं त्वमात्मविचेष्टितं स्मरिष्यसि? देशान्तरमदृष्ट्वा कां शिशुजनस्य वार्तां कथयिष्यसि। उक्तं च—

तब दूसरे दिन पापबुद्धि ने धर्मबुद्धि से कहा—'हे मित्र! वृद्धावस्था में अपने कौन से कार्य को स्मरण करोगे? दूसरे देश को देखे विना अपने लड़कों से कौन सी बात करोगे? कहा है—

देशान्तरेषु बहुविधभाषावेशादि येन न ज्ञातम्।
भ्रमता धरणीपीठे तस्य फलं जन्मनो व्यर्थम्॥४३०॥

जिस मनुष्य ने दूसरे देशों में घूमकर विविध प्रकार की भाषा और वेशादि को नहीं जाना उसका पृथ्वीतल पर जन्म ग्रहण करना व्यर्थ है॥४३०॥

तथा च—

उसी प्रकार—

विद्यां वित्तं शिल्पं तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक्।
यावद्व्रजति न भूमौ देशाद्देशान्तरं हृष्टः'॥४३१॥

कोई भी मनुष्य पृथ्वी तल पर, विद्या, वित्त (धन), शिल्प († वैज्ञानिक व्यापार, कारीगरी) तब तक सम्यक् प्रकार से नहीं प्राप्त करता, जब तक प्रसन्न मन से देश-देशान्तर नहीं जाता॥४३१॥

अथ तस्य तद्वचनमाकर्ण्य प्रहृष्टमनास्तेनैव सह गुरुजनानुज्ञातः शुभेऽहनि देशान्तरं प्रस्थितः। तत्र च धर्मबुद्धिप्रभावेण भ्रमता पाप-

† 'विज्ञानं शिल्प-शास्त्रयोः' इत्यमरः।

बुद्धिना प्रभूततरं वित्तमासादितम्। ततश्च द्वावपि तौ प्रभूतोपार्जितद्रव्यौ प्रहृष्टौ स्वगृहं प्रत्यौत्सुक्येन निवृत्तौ। उक्तं च—

तदनन्तर उसके इस प्रकार के वचन को सुनकर धर्मबुद्धि प्रसन्नचित्त होकर बड़े लोगों से आज्ञा लेकर किसी शुभ दिन को उसी के साथ, दूसरे देश की ओर रवाना हुआ। वहाँ धर्मबुद्धि के प्रभाव से घूमते हुए पापबुद्धि ने बहुत धन कमाया। तब वे दोनों अतुल धनोपार्जन से प्रसन्न हो बड़ी उत्कण्ठा से अपने घर की ओर लौटे। कहा भी है—

प्राप्तविद्यार्थशिल्पानां देशान्तरनिवासिनाम्।
कोशमात्रोऽपि भूभागः शतयोजनवद्भवेत् ॥४३२॥

विद्या, धन और शिल्प प्राप्त करने के बाद देशान्तर में गए हुए लोगों के लिए अपने घर की ओर की एक कोश भर पृथ्वी सौ योजन (४०० कोश) के समान (बहुत दूरवाली) हो जाती है ॥४३२॥

अथ स्वस्थानसमीपवर्तिना पापबुद्धिना धर्मबुद्धिरभिहितः—'भद्र! न सर्वमेतद्धनं गृहं प्रति नेतुं युज्यते। यतः कुटुम्बिनो बान्धवाश्च प्रार्थयिष्यन्ते। तदत्रैव वनगहने क्वापि भूमौ निक्षिप्य किञ्चिन्मात्रमादाय गृहं प्रविशावः। भूयोऽपि प्रयोजने सञ्जाते तन्मात्रं समेत्याऽस्मात् स्थानान्नेष्यावः। उक्तं च—

जब पापबुद्धि अपने घर के समीप पहुँचा तब उसने धर्मबुद्धि से कहा—'भद्र! सब-का-सब धन घर ले जाना उचित नहीं है; क्योंकि कुटुम्ब व जाति के लोग माँगने लगेंगे। सो इसी घोर वन में कहीं भूमि में गाड़कर और थोड़ा सा धन लेकर हम दोनों घर को चलें। पुनः काम पड़ने पर यहाँ आकर हम दोनों बाकी धन ले जायँगे। कहा है—

न वित्तं दर्शयेत् प्राज्ञः कस्यचित् स्वल्पमप्यहो!।
मुनेरपि यतस्तस्य दर्शनाच्चलते मनः ॥४३३॥

बुद्धिमान पण्डित को चाहिए कि अपना अत्यन्त अल्प धन भी किसी को न दिखलायें। क्योंकि यह आश्चर्य की बात है कि उसके दर्शन से मुनि (स्पृहारहित) लोगों का मन भी चल जाता है ॥४३३॥

तथा च—

और भी—

यथाऽऽमिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान्' ॥४३४॥

जिस प्रकार माँस जल में मछलियों से, पृथ्वी पर हिंस्रपशुओं से और आकाश में पक्षियों द्वारा खाया जाता है उसी प्रकार सर्वत्र धनवान् खाया जाता है (अर्थात् सब मनुष्य उसके धन को हड़पने की आकांक्षा करते हैं) ॥४३४॥

तदाकर्ण्य धर्मबुद्धिराह—'भद्र ! एवं क्रियताम् ।' तथाऽनुष्ठिते द्वावपि तौ स्वगृहं गत्वा सुखेन संस्थितवन्तौ ।

यह सुनकर धर्मबुद्धि ने कहा—भद्र ! ऐसा ही करो । वैसा करने पर वे दोनों अपने अपने घर जाकर सुख से रहने लगे ।

अथाऽन्यस्मिन्नहनि पापबुद्धिर्निशीथेऽटव्यां गत्वा तत्सर्वं वित्तं समादाय गर्तं पूरयित्वा स्वभवनं जगाम । अथाऽन्येद्युर्धर्मबुद्धिं समभ्येत्य प्रोवाच—'सखे ! बहुकुटुम्बा वयं वित्ताभावात् सीदामः । तद्गत्वा तत्र स्थाने किञ्चिन्मात्रं धनमानयावः ।' सोऽब्रवीत्—'भद्र ! एवं क्रियताम् ।'

तदनन्तर किसी दूसरे दिन पापबुद्धि, आधीरात के समय जङ्गल में जाकर, वह सब धन लेकर गड्ढे को भर कर, अपने घर चला आया । तब दूसरे दिन धर्मबुद्धि के पास आकर उसने कहा—हे मित्र ! हम लोग बहुत कुटुम्ब वाले हैं, और धन के न होने से क्लेश पाते हैं । सो उस स्थान पर चल कर कुछ थोड़ा सा धन हम दोनों ले आवें । उसने कहा—'भद्र ! ऐसा ही करो ।'

अथ द्वावपि गत्वा तत् स्थानं यावत् खनतस्तावद्रिक्तं भाण्डं दृष्टवन्तौ । अत्राऽन्तरे पापबुद्धिः शिरस्ताडयन् प्रोवाच—'भो धर्मबुद्धे ! त्वया हृतमेतद्धनम्, नाऽन्येन । यतो भूयोऽपि गर्ताऽऽपूरणं कृतम् । तत् प्रयच्छ मे तस्याऽर्धम् । अन्यथाऽहं राजकुले निवेदयिष्यामि ।' स आह—'भो दुरात्मन् ! मैवं वद । धर्मबुद्धिः खल्वहम् । नैतच्चौरकर्म करोमि । उक्तं च—

जब वे दोनों जाकर उस स्थान को खोदने लगे तब उन्होंने खाली बर्तन देखा। इतने में पापबुद्धि ने शिर पीटते हुए कहा—'हे धर्मबुद्धि! तुम्हीं इस धन को चुरा ले गए हो और किसी ने नहीं (चुराया है)। क्योंकि फिर भी तुमने गड्ढा भर दिया है। इस कारण मुझे उसका आधा दे दो। नहीं तो मैं कचहरी में जाकर निवेदन करूँगा।' उसने कहा—'अरे दुरात्मन्! ऐसा मत कह। मैं धर्मबुद्धि हूँ। ऐसा—चोर का—कर्म मैं नहीं कर सकता। कहा है—

मातृवत् परदाराणि परद्रव्याणि लोष्ट्रवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः' ॥४३५॥

जिनकी मति धर्म (पुण्य कर्म) में रहती है ऐसे धार्मिक लोग परायी स्त्री को माता के समान, पराये द्रव्य को मिट्टी के ढेले के समान, और सब प्राणियों को अपने समान देखते हैं ॥४३५॥

एवं द्वावपि तौ विवदमानौ धर्माधिकारिणं गतौ, प्रोचतुश्च परस्परं दूषयन्तौ। अथ धर्माधिकरणाधिष्ठितपुरुषैर्दिव्यार्थे यावन्नियोजितौ तावत् पापबुद्धिराह—'अहो! न सम्यग्दृष्टोऽयं न्यायः। उक्तं च—

इस प्रकार वे दोनों लड़ते हुए धर्माधिकारी (न्यायाधीश) के पास जाकर एक दूसरे को दोष लगाते हुए कहने लगे। जब धर्माधिकारी से नियुक्त (पेशकार) राजपुरुषों ने शपथ के लिए कहा तब पापबुद्धि ने कहा—अहो! यह फैसला तो ठीक नहीं दिखाई पड़ता। कहा है—

विवादेऽन्विष्यते पत्रं तदभावेऽपि साक्षिणः।
साक्ष्यभावात् ततो दिव्यं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥४३६॥

विवादकर्म (मुकदमा) में पहले पत्र (लेख, रजिस्टरी किया हुआ कागज) का अनुसन्धान किया जाता है (अर्थात् देखा जाता है); उसके अभाव में साक्षी (ढूँढ़े जाते हैं)। साक्षी के अभाव में शपथ करायी जाती है—ऐसा (कानून के) विद्वान् लोग कहते हैं ॥४३६॥

तदत्र विषये मम वृक्षदेवताः साक्षीभूतास्तिष्ठन्ति। ता अप्यावयोरेकतरं चौरं साधुं वा करिष्यन्ति।' अथ तैः सर्वैरभिहितम्—'भोः! युक्तमुक्तं भवता। उक्तं च—

सो इस विषय में हमारे साक्षी (गवाह) वनदेवता हैं। वही हम दोनों में से एक को चोर या साधु बनावेंगे। तब उन सबों ने कहा—हाँ! हाँ! तुमने बहुत अच्छा कहा। कहा भी है—

अन्त्यजोऽपि यदा साक्षी विवादे सम्प्रजायते।
न तत्र विद्यते दिव्यं किं पुनर्यत्र देवताः? ॥४३७॥

मुकदमा में यदि † अन्त्यज भी साक्षी होता है तो वहाँ शपथ की आवश्यकता नहीं समझी जाती; फिर जहाँ वनदेवता (साक्षी) हों तो वहाँ क्या पूछने की बात है! ॥४३७॥

तदस्माकमप्यत्र विषये महत् 'कौतूहलं' वर्तते। प्रत्यूषसमये युवाभ्यामप्यस्माभिः सह तत्र वनोद्देशे गन्तव्यम्' इति।

सो हम लोगों को भी इस विषय (मुकदमे) में बड़ा कुतूहल है। सो तुम दोनों को कल प्रातःकाल हम लोगों के संग उस वन में चलना होगा।

एतस्मिन्नन्तरे पापबुद्धिः स्वगृहं गत्वा स्वजनकमुवाच—'तात! प्रभूतोऽयं मयाऽर्थो धर्मबुद्धेश्चोरितः। स च तव वचनेन परिणतिं गच्छति। अन्यथाऽस्माकं प्राणैः सह यास्यति'। स आह—'वत्स! द्रुतं वद येन प्रोच्य तद्द्रव्यं स्थिरतां नयामि।' पापबुद्धिराह—'तात! अस्ति तत्प्रदेशे महाशमी। तस्यां महत् कोटरमस्ति। तत्र त्वं साम्प्रतमेव प्रविश। ततः प्रभाते यदाऽहं सत्यश्रावणं करोमि, तदा त्वया वाच्यं यद्धर्मबुद्धिश्चौर इति।' तथानुष्ठिते प्रत्यूषे स्नात्वा धौतप्रावरणः पापबुद्धिः धर्मबुद्धिपुरःसरो धर्माधिकरणकैः सह तां शमीमभ्येत्य तारस्वरेण प्रोवाच—

इस बीच में पापबुद्धि ने, अपने घर जाकर, अपने पिता से कहा—'हे पिता! मैंने धर्मबुद्धि का बहुत-सा धन चुरा लिया है। और वह तुम्हारे कहने से पच जायगा। नहीं तो मेरे प्राण भी इसी के साथ चले जायँगे।' उसने कहा—'पुत्र! शीघ्र कहो, जो (तुम्हारे कथनानुसार) मैं करके उसे पक्का कर दूँ।' पापबुद्धि ने कहा—'हे पिता! उस स्थान पर शमी का एक बड़ा वृक्ष है। उसमें

† रजक, चर्मकार, नट, वरुड, कैवर्त, मेद एवं भिल्ल—ये सात स्मृति में अन्त्यज (अछूत) कहे गए हैं।

एक बहुत बड़ा खोखला है। उसमें तुम अभी जा घुसो। और प्रभातकाल में जब मैं सत्य श्रावण करूँ (अर्थात् राजपुरुषों को सत्यवाक्य सुनाने के लिए वनदेवता से दुहाई माँगू) तब तुम कहना कि धर्मबुद्धि चोर है।' ऐसा करने पर प्रातःकाल पापबुद्धि ने स्नानकर, धुले हुए वस्त्र धारणकर, धर्मबुद्धि को आगे कर, धर्माधिकारियों के साथ उस शमी वृक्ष के पास पहुँचकर, उच्चस्वर से कहा—

* आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥४३८॥

सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, स्वर्ग, पृथ्वी, जल, हृदय, यमराज, दिन, रात्रि, दोनों सन्ध्याएँ और धर्म—ये मनुष्यों के चरित्र जानते हैं ॥४३८॥

भगवति वनदेवते! आवयोर्मध्ये यश्चौरस्तं कथय।' अथ पापबुद्धि-पिता शमीकोटरस्थः प्रोवाच—'भो! शृणुत शृणुत। धर्मबुद्धिना हृतमेतद्धनम्'।

भगवति वनदेवते! हम दोनों में से जो चोर हो उसे तुम कहो।' तब खोखले में बैठा हुआ पापबुद्धि का पिता कहने लगा—'अहो! तुम सब सुनो। वह सब धन धर्मबुद्धि ने चुराया है।'

तदाकर्ण्य सर्वे ते राजपुरुषा विस्मयोत्फुल्लोचना यावद्धर्मबुद्धेर्वित्त-हरणोचितं निग्रहं शास्त्रदृष्ट्याऽवलोकयन्ति, तावद्धर्मबुद्धिना तच्छमी-कोटरं वह्निभोज्यद्रव्यैः परिवेष्ट्य वह्निना सन्दीपितम्।

यह सुनकर उन सब राजपुरुषों (न्यायाधिकारियों) के नेत्र आश्चर्य से खुल गये; और जब वे धर्मबुद्धि के धन चुराने के उचित दण्ड को शास्त्र की दृष्टि से विचार करने में लग गये तब धर्मबुद्धि ने उस शमी वृक्ष के खोखले में अग्नि भोज्य (इन्धन, घास-फूस, काष्ठादि) पदार्थों से चारो ओर घेर कर उसमें आग लगा दी।

अथ ज्वलति तस्मिञ्शमीकोटरेऽर्धदग्धशरीरः स्फुटितेक्षणः करुणं परिदेवयन् पापबुद्धिपिता निश्चक्राम। ततश्च तैः सर्वैः पृष्टः—'भोः! किमिदम्?' इत्युक्ते स पापबुद्धिविचेष्टितं सर्वमिदं निवेदयित्वोपरतः।

* इसी तन्त्र का १९३ वाँ श्लोक देखिए।

अथ ते राजपुरुषाः पापबुद्धिं शमीशाखायां प्रतिलम्ब्य धर्मबुद्धिं प्रशस्येदमूचुः—'अहो ! साध्विदमुच्यते—

तब उस शमी के खोखले के जलने पर, आधा शरीर जला हुआ, फूटी आँख वाला, करुण (दीन) स्वर से (हाय हाय) चिल्लाता हुआ, पापबुद्धि का पिता निकला। तदनन्तर उन सबों ने पूछा—'अरे, ! यह क्या हुआ ?' ऐसा कहने पर 'यह सब पापबुद्धि की कारंवाई है' यह निवेदन कर मर गया। तब उन राजपुरुषों ने पापबुद्धि को शमी वृक्ष की डाली में लटका दिया और धर्मबुद्धि की प्रशंसा कर, कहा। अहो ! यह सत्य कहा गया है—

उपायं चिन्तयेत् प्राज्ञस्तथाऽपायं च चिन्तयेत्।
पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलेन हता बकाः' ॥४३९॥

बुद्धिमान् को चाहिए कि उपाय (साधन) के साथ-साथ अपाय (विनाश) को भी सोचे। क्योंकि मूर्ख बगुले के देखते हुए † नकुल (नेवले) ने उसके सभी बच्चे खा डाले ॥४३९॥

धर्मबुद्धिः प्राह—'कथमेतत् ?' ते प्रोचुः—

धर्मबुद्धि ने कहा—'यह कैसी कथा है ?' उन्होंने कहा—

(कथा २०)

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे बहुबकसनाथो वटपादपः। तस्य कोटरे कृष्णसर्पः प्रतिवसति स्म। स च बकबालकानजातपक्षानपि सदैव भक्षयन् कालं नयति। अथैको बकस्तेन भक्षितान्यपत्यानि दृष्ट्वा शिशुवैराग्यात् सरस्तीरमासाद्य बाष्पपूरपूरितनयनोऽधोमुखस्तिष्ठति। तं तादृक् चेष्टितमवलोक्य कुलीरकः प्रोवाच—

किसी वन में अनेक बगुलों से युक्त एक वट का वृक्ष था। उसके खोखले में एक काला साँप रहता था। वह पँख न निकले हुए बगुलों के बच्चों को सर्वदा खाता हुआ अपना समय व्यतीत करता था। तब एक बगुला उसके द्वारा अपने बच्चे को खाए हुए देखकर, शिशु के मरण के शोक में सरोवर के तटपर आकर, अश्रुप्रवाह पूर्ण नेत्रों से, नीचे की ओर मुँह किए हुए बैठ गया। उसे उस दशा में देखकर कुलीरक ने पूछा—

† 'यदयं नकुलद्वेषी स कुलद्वेषी पुनः पिशुनः'—वासवदत्ता।

'माम ! किमेवं रुद्यते भवताऽद्य ?' स आह—'भद्र ! किं करोमि ? मम मन्दभाग्यस्य बालकाः कोटरनिवासिना सर्पेण भक्षिताः । तद्दुःख-दुःखितोऽहं रोदिमि । तत्कथय मे यद्यस्ति कश्चिदुपायस्तद्विनाशाय ?' तदाकर्ण्य कुलीरकश्चिन्तयामास—'अयं तावदस्मज्जातिसहजवैरी । तथो-पदेशं प्रयच्छामि सत्यानृतं यथाऽन्येऽपि बकाः सर्वे संक्षयमायान्ति । उक्तं च—

'मामा ! आज आप इस प्रकार रुदन क्यों कर रहे हैं ?' उसने कहा—'भद्र ! क्या करूँ ? मुझ भाग्यहीन के सभी बच्चों को खोखले में रहनेवाले एक साँप ने खा लिया है । सो उसी के दुःख से दुःखित होकर मैं रो रहा हूँ । अतः यदि उसके विनाश का कोई उपाय हो तो मुझे बतलाओ ।' यह सुनकर कुलीरक ने विचार किया कि 'यह तो हमारी जाति का सहज (स्वाभाविक) शत्रु है । सो ऐसा सत्य और असत्य से मिश्रित (झूठा सचा) उपदेश दूँ, जिससे दूसरे बगुले भी नष्ट हो जाँय । कहा है—

नवनीतसमां वाणीं कृत्वा चित्तं तु निर्दयम् ।
तथा प्रबोध्यते शत्रुः सान्वयो म्रियते यथा' ॥४४०॥

वाणी को नवनीत (मक्खन; अर्थात् अत्यन्त कोमल) के समान और चित्त (मन) को निष्ठुर करके शत्रु को इसतरह समझावे (उपदेश दे) जिससे वह स-वंश क्षय को प्राप्त हो जाय ॥४४०॥

आह च—'माम ! यद्येवं तन्मत्स्यमांसखण्डानि नकुलस्य बिलद्वारात् सर्पकोटरं यावत् प्रक्षिप यथा नकुलस्तन्मार्गेण गत्वा तं दुष्टसर्पं विनाश-यति ।' अथ तथाऽनुष्ठिते मत्स्यमांसानुसारिणा नकुलेन तं कृष्णसर्पं निहत्य तेऽपि तद्वृक्षाश्रयाः सर्वे बकाश्च शनैः शनैर्भक्षिताः । अतो वयं ब्रूमः—'उपायं चिन्तयेत्' इति ।

उसने कहा—'मामा ! यदि ऐसा है तो मछलियों के माँस के टुकड़ों को लेकर नेवले के बिल के छेद से लेकर साँप के खोखले तक गिरा दो जिससे नेवला उस राह से जाकर उस दुष्ट सर्प को मार डाले ।' वैसा करने पर मछलियों के माँस का अनुसरण करनेवाले नेवले ने उस काले साँप को मारकर उस वृक्ष पर

रहनेवाले सभी बगुलों को भी धीरे २ खा डाला। इसीलिए हम कहते हैं—'उपाय को चिन्ता करे…' इत्यादि।

तदनेन पापबुद्धिना उपायश्चिन्तितो, नाऽपायः। ततस्तत्फलं प्राप्तम्।' अतोऽहं ब्रवीमि—'धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च' इति। एवं मूढ ! त्वयाप्युपायश्चिन्तितो नाऽपायः पापबुद्धिवत्। तन्न भवसि त्वं सज्जनः, केवलं पापबुद्धिरसि। ज्ञातो मया स्वामिनः प्राणसन्देहानयनात् प्रकटीकृतं त्वया स्वयमेवाऽऽत्मनो दुष्टत्वं कौटिल्यं च। अथवा साध्विदमुच्यते—

सो इस पापबुद्धि ने उपाय तो सोचा किन्तु अपाय (विनाश) नहीं, सोचा। इसी से उसका फल पाया। इसीसे मैं कहता हूँ कि 'धर्मबुद्धि और कुबुद्धि इन दोनों को मैंने जान लिया' इत्यादि। इसी तरह ऐ नादान ! तुमने भी उपाय सोचा किन्तु पापबुद्धि की तरह विनाश की चिन्ता न की। सो तुम सज्जन नहीं हो, केवल पापबुद्धि हो। स्वामी पिङ्गलक के प्राणों को खतरे में डाल देनेही से यह मैंने जान लिया है। तुमने स्वयं ही अपनी दुष्टता और कुटिलता प्रकट कर दी। अथवा यह उचित ही कहा गया है।

यत्नादपि कः पश्येच्छिखिनामाहारनिःसरणमार्गम्।
यदि जलदध्वनिमुदितास्त एव मूढा न नृत्येयुः ॥४४१॥

अगर मेघों की ध्वनि से हर्षित होकर वे मूढ़ (मयूर) स्वयं न नृत्य करें तो कौन यत्न करके भी मयूरों के आहार निकलने के मार्ग (गुदा द्वार) को देख सकता है ? ॥४४१॥

यदि त्वं स्वामिन एनां दशां नयसि, तदस्मद्विधस्य का गणना ? तस्मान्ममाऽऽसन्नेन भवता न भाव्यम्। उक्तं च—

अब तुम स्वामी की ऐसी दशा करने को ले जा रहे हो तो फिर हमारे जैसे लोगों की क्या गिनती है ? इसलिए तुम मेरे निकट से चले जाओ क्योंकि कहा है—

तुलां लोहसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषिकाः।
राजंस्तत्र हरेच्छ्येनो बालकं नाऽत्र संशयः ॥४४२॥

जब एक सहस्र पल लोहे की तुला (तराजू) को चूहे खा जाते हैं तब ह

राजन् ! श्येन पक्षी (बाज़) बालक को ले जाय तो इसमें संशय करने की कोई बात नहीं है ॥४४२॥

दमनक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

दमनक ने पूछा—वह कैसे ? उसने कहा—

(कथा २१)

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने जीर्णधनो नाम वणिक्पुत्रः । स च विभव-क्षयाद्देशान्तरगमनमना व्यचिन्तयत्—

किसी नगर में जीर्णधन नामक एक बनिए का लड़का रहता था। धन के नाश हो जाने से वह परदेश में जाने की इच्छा से विचार करने लगा—

'यत्र देशेऽथवा स्थाने भोगान् भुक्त्वा स्ववीर्यतः ।
तस्मिन् विभवहीनो यो वसेत् स पुरुषाधमः ॥४४३॥

जिस देश अथवा स्थान में अपने पुरुषार्थ से सब सुखों को भोग चुके फिर उसी स्थान में निर्धन होकर जो मनुष्य रहे वह पुरुषों में अधम है ॥४४३॥

तथा च—

और भी—

येनाऽहङ्कारयुक्तेन चिरं विलसितं पुरा ।
दीनं वदति तत्रैव यः परेषां स निन्दितः' ॥४४४॥

जिसने जिस जगह अहङ्कार के साथ पूर्व में दीर्घकाल तक सुख-विलास किया है और फिर उसी देश में रहता हुआ दूसरों के आगे कातरवाणी कहता है तो वह तिरस्कार का पात्र होता है ॥४४४॥

तस्य च गृहे लोहभारघटिता पूर्वपुरुषोपार्जिता तुलाऽऽसीत् । तां च कस्यचिच्छ्रेष्ठिनो गृहे निक्षेपभूतां कृत्वा देशान्तरं प्रस्थितः । ततः सुचिरं कालं देशान्तरं यथेच्छया भ्रान्त्वा पुनः स्वपुरमागत्य तं श्रेष्ठिन-मुवाच—'भोः श्रेष्ठिन् ! दीयतां मे सा निक्षेपतुला ।' स आह—'भो ! नास्ति सा, त्वदीया तुला मूषिकैर्भक्षिता ।'

उस (जीर्णधन) के घर में पूर्वजों की उपार्जित एक सहस्र पल की लोहनिर्मित एक तराजू थी। उस तराजू को किसी सेठ के घर में अमानत

(गिरवी, धरोहर) रखकर वह परदेश चला गया। तदनन्तर बहुत समय तक परदेश में स्वेच्छा से घूमकर फिर अपने नगर में आकर उस श्रेष्ठीसे उसने कहा—'हे सेठ जी! मेरी उस धरोहर रखी हुई तराजू को दे दीजिए!' उसने उत्तर दिया—'हे भाई! वह नहीं है, तुम्हारी तराजू को तो चूहों ने खा डाला।'

जीर्णधन आह—भोः श्रेष्ठिन्! नास्ति दोषस्ते, यदि सा मूषिकैः भक्षितेति। ईदृगेवायं संसारः। न किञ्चिदत्र शाश्वतमस्ति। परमहं नद्यां स्नानार्थं गमिष्यामि। तत् त्वमात्मीयं शिशुमेनं धनदेवनामानं मया सह स्नानोपकरणहस्तं प्रेषय' इति। सोऽपि चौर्यभयात् तस्य शङ्कितः स्वपुत्रमुवाच—'वत्स! पितृव्योऽयं तव, स्नानार्थं नद्यां यास्यति। तद्गम्यतामनेन सार्धं स्नानोपकरणमादाय' इति। अहो! साध्विदमुच्यते-

जीर्णधन ने कहा—'हे सेठ जी! यदि उसे चूहे खा गये तो इसमें आप का क्या दोष? यह संसार इसी प्रकार का है। इस संसार में कोई वस्तु अक्षय नहीं है। परन्तु मैं नदी में स्नान करने के लिए जाऊँगा। सो अपने इस धनदेव नामक बालक को मेरे संग स्नान के योग्य सामग्रियाँ (धोती, अंगोछा, साबुन, तेल आदि) देकर भेज दीजिए।' उसने भी चोरी लगने के भय से उससे शङ्कित हो अपने पुत्र से कहा—'हे पुत्र! यह तुम्हारे चाचा नदी में स्नान करने के लिए जा रहे हैं सो तुम स्नानसामग्री लेकर इनके सङ्ग जाओ।' अहो! यह उचित ही कहा गया है—

न भक्त्या कस्यचित् कोऽपि प्रियं प्रकुरुते नरः।
मुक्त्वा भयं प्रलोभं वा कार्यकारणमेव वा ॥४४५॥

भय के हेतु, प्रलोभन, या कार्य-कारण (प्रयोजन, मतलब) इन तीनों को छोड़कर भक्ति (अनुराग) से कोई मनुष्य किसी का प्रिय (उपकार) नहीं करता ॥४४५॥

तथा च—

और भी—

अत्यादरो भवेद्यत्र कार्यकारणवर्जितः।
तत्र शङ्का प्रकर्तव्या परिणामेऽसुखावहा ॥४४६॥

जहाँ बिना किसी मतलब के ही अत्यन्त आदर हो तो वहाँ अवश्य सन्देह करना चाहिए क्योंकि इसका परिणाम अत्यन्त दुःखकर होता है ॥४४६॥

अथाऽसौ वणिक्शिशुः स्नानोपकरणमादाय प्रहृष्टमनास्तेनाऽभ्यागतेन सह प्रस्थितः। तथाऽनुष्ठिते वणिक् स्नात्वा तं शिशुं नदीगुहायां प्रक्षिप्य तद्द्वारं बृहच्छिलयाऽऽच्छाद्य सत्वरं गृहमागतः। पृष्टश्च तेन वणिजा— 'भो अभ्यागत ! कथ्यतां कुत्र मे शिशुर्यस्त्वया सह नदीं गतः ?' इति। स आह—'नदीतटात् स श्येनेन हृतः' इति।

तदनन्तर वह वणिक्पुत्र स्नान की सामग्री लेकर, प्रसन्नचित्त हो उस आगन्तुक के साथ चला। ऐसा करने पर वणिक् ने स्नान किया और उस बालक को नदी-तीर के एक गड्ढे में रखकर और उसके द्वार को एक बड़ी भारी शिला से बन्दकर शीघ्र ही घर पर आया। तब उस वणिक् ने पूछा—'हे अभ्यागत ! कहो, मेरा बालक कहाँ है जो नदी स्नान के लिए तुम्हारे साथ गया था ?' उसने उत्तर दिया—'नदी के किनारे से उसे बाज़ उठा ले गया।'

श्रेष्ठ्याह—'मिथ्यावादिन् ! किं क्वचिच्छ्येनो बालं हर्तुं शक्नोति ? तत्समर्पय मे सुतम्। अन्यथा राजकुले निवेदयिष्यामि' इति। स आह—'भोः सत्यवादिन् ! यथा श्येनो बालं न नयति तथा मूषिका अपि लोहभारघटितां तुलां न भक्षयन्ति। तदर्पय मे तुलाम्, यदि दारकेण प्रयोजनम्।' एवं तौ विवदमानौ द्वावपि राजकुलं गतौ।

सेठ ने कहा—'अरे असत्यवादी ! क्या कोई बाज़ भी बालक को उठा ले जा सकता है ? सो मेरे पुत्र को दो। अन्यथा राजकुल (कचहरी) में जाकर निवेदन कर दूँगा।' उसने कहा—'अरे सत्यवादी ! जिस प्रकार बाज़ बालक को नहीं ले जा सकता उसी प्रकार चूहे भी सहस्र पल की निर्मित तराज़ू को नहीं खा सकते। इसलिए यदि बालक का प्रयोजन हो तो मेरी तराज़ू दो।' इस प्रकार दोनों लड़ते झगड़ते राजकुल (अदालत) में गये।

तत्र श्रेष्ठी तारस्वरेण प्रोवाच—'भो ! अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम्। मम शिशुरनेन चौरेणाऽपहृतः।' अथ धर्माधिकारिणस्तमूचुः—'भोः ! समर्प्यतां श्रेष्ठिसुतः।' स आह—किं करोमि ? पश्यतो मे नदीतटाच्छ्ये-

नेनाऽपहृतः शिशुः।' तच्छ्रुत्वा ते प्रोचुः—'भोः! न सत्यमभिहितं भवता। किं श्येनः शिशुं हर्तुं समर्थो भवति?' स आह—'भो भोः! श्रूयतां मद्वचः।

वहाँ सेठ ने उच्चस्वर से कहा—'हे! दुहाई है! दुहाई है! इस चोर ने मेरे बालक को चुरा लिया है।' तब धर्माधिकारियों ने उससे कहा—'अरे! सेठ के पुत्र को दे दो।' उसने कहा—'मैं क्या करूँ? मेरे देखते देखते नदी के किनारे से बालक को बाज़ ले गया।' यह सुनकर उन्होंने कहा—'अरे! तुमने सत्य बात नहीं कही! क्या बाज़ भी बालक को ले जाने में समर्थ हो सकता है?' उसने कहा—अहो! मेरी बात तो सुनो—

तुलां लोहसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषिकाः।
राजंस्तत्र हरेच्छ्येनो बालकं नात्र संशयः ॥४४७॥

जब सहस्र पल लोहे की बनी हुई तराजू को चूहे खा जाते हैं तब हे राजन्! यदि श्येन (बाज़) बालक को ले जाय तो इसमें संशय करने की कौनसी बात है? † ॥४४७॥

ते प्रोचुः—'कथमेतत्?' ततः श्रेष्ठी सभ्यानामग्रे आदितः सर्वं वृत्तान्तं निवेदयामास। ततस्तैर्विहस्य द्वावपि तौ परस्परं सम्बोध्य तुला-शिशुप्रदानेन सन्तोषितौ। अतोऽहं ब्रवीमि—'तुलां लोहसहस्रस्य' इति।

उन्होंने पूछा—'यह मामला क्या है?' तब सेठ ने सभ्यों के आगे, आदि से सब वृत्तान्त को निवेदन कर दिया। तदनन्तर वे हँसने लगे और उन दोनों को परस्पर समझा बुझाकर तराजू और बालक दिलवाकर सन्तुष्ट किया। इसी से मैं कहता हूँ 'जब सहस्र पल की···' इत्यादि।

तन्मूर्ख! सञ्जीवकप्रसादमसहमानेन त्वयैतत् कृतम्। अहो! साध्विदमुच्यते—

अतः हे मूढ़! सञ्जीवक के राजकीय-अनुग्रह को न सह सकने के कारण ही तुमने ऐसा कर्म किया। अहो! उचित ही कहा है—

† इसी तन्त्र का ४४२ वाँ श्लोक देखिए।

प्रायेणाऽत्र कुलान्वितं कुकुलजाः श्रीवल्लभं दुर्भगा
दातारं कृपणा ऋजूननृजवो वित्ते स्थितं निर्धनाः ।
वैरूप्योपहताश्च कान्तवपुषं धर्माश्रयं पापिनो
नानाशास्त्रविचक्षणं च पुरुषं निन्दन्ति मूर्खाः सदा ॥४४८॥

प्रायः इस संसार में नीच कुलोत्पन्न मनुष्य सद्वंशोत्पन्न की, भाग्यहीन लोग लक्ष्मीप्रिय (सम्पत्तिशाली) की, कृपण लोग दाताओं को, कुटिल पुरुष सीधे मनुष्य की, निर्धन लोग धनियों की, कुरूप लोग रमणीक आकृति वालों की, पापी लोग धार्मिकों की और मूर्ख लोग विविधशास्त्र में पारङ्गत पुरुष की, निन्दा सर्वदा किया करते हैं ॥४४८॥

तथा च—

उसी प्रकार—

मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या निर्धनानां महाधनाः ।
व्रतिनः पापशीलानामसतीनां कुलस्त्रियः ॥४४९॥

मूर्खों के लिए विद्वान्, धनहीनों के लिए धनी, अधर्मी के लिए धार्मिक और कुलटाओं के लिए कुलकामिनियाँ (पतिपरायण महिलाएँ) निन्दा के पात्र हैं ॥

तन्मूर्ख ! त्वया हितमप्यहितं कृतम् । उक्तं च—

सो हे मूर्ख ! तुमने हित को भी अहित कर दिया । कहा है—

पण्डितोऽपि वरं शत्रुर्न मूर्खो हितकारकः ।
वानरेण हतो राजा विप्राश्चौरेण रक्षिताः' ॥४५०॥

यदि विद्वान् अपना शत्रु भी हो तो वह अच्छा है किन्तु हितकारी मूर्ख हो तो वह अच्छा नहीं । क्योंकि (हितकारी) बन्दर से राजा मारा गया और (अहितकारी) चोर से ब्राह्मण लोगों की जान बची ॥४५०॥

दमनक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

दमनक ने पूछा—'यह किस प्रकार की कथा है ?' उसने कहा —

(कथा २२)

कस्यचिद्राज्ञो नित्यं वानरोऽतिभक्तिपरोऽङ्गसेवकोऽन्तःपुरेऽप्यप्रतिषिद्धप्रसरोऽतिविश्वासस्थानमभूत् । एकदा राज्ञो निद्रां गतस्य वानरे

व्यजनं नीत्वा वायुं विदधति राज्ञो वक्षःस्थलोपरि मक्षिकोपविष्टा। व्यजनेन मुहुर्मुहुर्निषिध्यमानाऽपि पुनः पुनस्तत्रैवोपविशति।

किसी राजा के यहाँ नित्य भक्ति में तत्पर, शरीर परिचारक, अन्तःपुर में बिना रोक-टोक के आने-जानेवाला और पूरी तरह से विश्वासपात्र एक बन्दर था। एक समय राजा के निद्रित होने पर बन्दर पङ्खा लेकर हवा झल रहा था कि राजा के उरःस्थल पर एक मक्खी बैठ गयी। पंखे से बराबर उड़ाने पर भी वह फिर-फिर भी वहीं आकर बैठ जाया करती थी।

ततस्तेन स्वभावचपलेन मूर्खेण वानरेण क्रुद्धेन [illegible] तीक्ष्णं खड्गमादाय तस्या उपरि प्रहारो विहितः। ततो म[illegible]ड्डीय गता। तेन शितधारेणाऽसिना राज्ञो वक्षो द्विधा जातं, राज[illegible]तश्च। तस्माच्चिरायुरिच्छता नृपेण मूर्खोऽनुचरो न रक्षणीयः।

तदनन्तर चञ्चलस्वभाव वाले मूर्ख बन्दर ने कुपित होकर एक तीक्ष्ण खड्ग लेकर उसके ऊपर प्रहार कर दिया। तब मक्खी तो उड़ गयी। किन्तु उस तीक्ष्णधारवाली तलवार से राजा का वक्षःस्थल दो टुकड़ा हो गया और तब राजा मर गया। इस लिए दीर्घ आयु की चाहना करनेवाले राजा को चाहिए कि मूर्ख अनुचर [illegible] रखे।

अपरमेकस्मिन्नगरे कोऽपि विप्रो महाविद्वान् परं पूर्वजन्मयोगेन चौरो वर्तते। स तस्मिन् पुरेऽन्यदेशादागतांश्चतुरो विप्रान् बहूनि वस्तूनि विक्रीणतो दृष्ट्वा चिन्तितवान्—'अहो! केनोपायेनैषां धनं लभे?'

दूसरी कथा यह है—किसी एक नगर में कोई बड़ा विद्वान् ब्राह्मण रहता था, किन्तु पूर्वजन्म के संस्कार के कारण वह चोर हो गया था। उसने उस नगर में अन्य देशों से आए हुए, चार ब्राह्मणों को बहुत चीजें बेचते हुए देखकर विचार किया—'अहो! किस उपाय से इनका धन मैं ले लूँ?'

इति विचिन्त्य तेषां पुरोऽनेकानि शास्त्रोक्तानि सुभाषितानि चाऽतिप्रियाणि मधुराणि वचनानि जल्पता तेषां मनसि विश्वासमुत्पाद्य सेवा कर्तुमारब्धा। अथवा साध्विदमुच्यते—

ऐसा विचार उनके सामने अनेक शास्त्र-कथित सुभाषित और [illegible]अन्त प्रिय

मधुर बात को कहकर, उनके मनमें विश्वास उत्पन्न कर दिया और सेवा करना भी आरम्भ कर दिया। अथवा यह ठीक ही कहा है—

असती भवति सलज्जा क्षारं नीरं च शीतलं भवति।
दम्भी भवति विवेकी प्रियवक्ता भवति धूर्तजनः॥ ४५१॥

कुलटा ही तो लज्जावती बनती है, खारा पानी शीतल होता है, दम्भी (ढोंगी) विवेकी होता है, और धूर्त मनुष्य ही प्यारी प्यारी मीठी बात करने वाला होता है॥ ४५१॥

अथ त[illegible] तैर्विप्रैः सर्ववस्तूनि विक्रीय बहुमूल्यानि रत्नानि क्रीतानि। त[illegible] जङ्घामध्ये तत्समक्षं प्रक्षिप्य स्वदेशं प्रति गन्तुमुद्यमो वि[illegible]तः। ततः स धूर्तविप्रस्तान् विप्रान् गन्तुमुद्यतान् प्रेक्ष्य चिन्ताव्याकुलितमनाः सञ्जातः। 'अहो! धनमेतन्न किञ्चिन्मम चटितम्। अथैभिः सह यामि। पथि क्वापि विषं दत्वैतान् निहत्य सर्वरत्नानि गृह्णामि।'

उसके सेवा करने पर उन ब्राह्मणों ने सब चीजें बेचकर बहुमूल्य रत्न खरीदे। तब उसके सामने ही उन्हें जङ्घा में, रखकर, अपने देश की ओर जाने के लिए तैयारी की। तब वह धूर्त ब्राह्मण उन ब्राह्मणों को जाने के लिए तैयार देखकर मन में बड़ा चिन्तित एवं व्याकुल हुआ 'अहो! यह धन कुछ भी मेरे हाथ नहीं लगा। सो अब मैं इनके सङ्ग जाऊँ और राह में कहीं विष दे इन्हें मार कर सब रत्नों को अपने हस्तगत कर लूँ।'

इति विचिन्त्य तेषामग्रे सकरुणं विलप्यैवमाह—'भो मित्राणि! यूयं मामेकाकिनं मुक्त्वा गन्तुमुद्यताः। तन्मे मनो भवद्भिः सह स्नेहपाशेन बद्धं भवद्विरहनाम्नैव तथाऽऽकुलं सञ्जातं यथा धृतिं क्वापि न धत्ते। यूयमनुग्रहं विधाय सहायभूतं मामपि सहैव नयत।' तद्वचः श्रुत्वा ते करुणाऽऽर्द्रचित्तास्तेन सममेव स्वदेशं प्रति प्रस्थिताः। अथाऽध्वनि तेषां पञ्चाशामपि पल्लीपुरमध्ये व्रजतां ध्वाङ्क्षाः कथयितुमारब्धाः—'रे रे किराताः! धावत धावत। सपादलक्षधनिनो यान्ति। एतान् निहत्य धनं नयत।'

ऐसा विचार कर उनके आगे करुणापूर्वक विलाप करता हुआ उसने इस प्रकार कहा—'हे मित्रो ! तुम सब मुझे अकेले छोड़कर जाने को तैयार हो गये हो । सो मेरा मन आपके प्रेम-पाश में बँधा होने के कारण, आपके विरह नाम ही से व्यथित हो गया है और जिससे मैं किसी तरह धैर्य नहीं धारण कर सकता । तुम लोग कृपाकर मुझे सहायक समझ कर अपने साथ ले चलो । उसकी बात सुनकर वे करुणा से आर्द्रचित्त होकर उसको साथ में लेकर अपने देश को रवाना हुए । तब मार्ग में उन पाँचों को पल्लीपुर (गाँव से नगर को) जाते हुए (देखकर) कौओं ने कहना आरम्भ किया—'अरे ! भीलो ! दौड़ो, दौड़ो । (१, २५,०००) सवालाख के धनी जाते हैं । इनको मारकर सब धन ले लो ।'

ततः किरातैर्ध्वाङ्क्षवचनमाकर्ण्य सत्वरं गत्वा ते विप्रा लगुडप्रहारैर्जर्जरीकृत्य वस्त्राणि मोचयित्वा विलोकिताः, परं धनं किञ्चिन्न लब्धम् । तदा तैः किरातैरभिहितम्—'भोः पान्थाः ! पुरा कदापि ध्वाङ्क्षवचनमनृतं नासीत् । ततो भवतां सन्निधौ क्वापि धनं विद्यते तदर्पयत । अन्यथा सर्वेषामपि वधं विधाय चर्म विदार्य प्रत्यङ्गं प्रेक्ष्य धनं नेष्यामः' इति ।

तदनन्तर भीलों ने डण्डों की मार से उन्हें (निर्जीव) शिथिलकर कपड़े उतार कर तलाशी ली । परन्तु कुछ भी धन न मिला । तब उन भीलों ने कहा—'हे पथिको ! पूर्व में कभी भी कौओं की बात झूठ नहीं हुई थी । सो आपके पास जो धन हो उसे रख दो । नहीं तो सबको मारकर चमड़ा फाड़कर सब अङ्ग देखकर हम लोग धन ले लेंगे ।

तदा तेषामीदृशं वचनमाकर्ण्य चौरविप्रेण मनसि चिन्तितम्—'यदैषां विप्राणां वधं विधायाऽङ्गं विलोक्य रत्नानि नेष्यन्ति, तदापि मां वधिष्यन्ति । ततोऽहं पूर्वमेवाऽऽत्मानमरत्नं समर्प्यैतान् मुञ्चामि । उक्तं च—

तब उनके इस प्रकार के वचन को सुनकर चोर-ब्राह्मण ने मन में विचार किया कि 'यदि इन ब्राह्मणों का वध करके शरीर की तलाशी लेकर रत्नों को ले

लेंगे तो बाद में मुझे भी मार डालेंगे। सो मैं ही अपने रत्नहीन शरीर को पहले समर्पित कर इन ब्राह्मणों को (किरातों से) छुड़ा लूँ (अर्थात् जान बचा दूँ)। क्योंकि कहा है—

मृत्योर्बिभेषि किं बाल ! न स भीतं विमुञ्चति।
अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥४५२॥

अरे मूर्ख ! तू मृत्यु से क्या डरता है ? वह (मृत्यु) भयभीत को नहीं छोड़ता। क्योंकि आज हो अथवा सौ वर्ष में हो प्राणियों की मृत्यु होनी तो निश्चित है ॥४५२॥

तथा च—

और भी—

गवार्थे ब्राह्मणार्थे च प्राणत्यागं करोति यः।
सूर्यस्य मण्डलं भित्त्वा स याति परमां गतिम्' ॥४५३॥

जो पुरुष गौ एवं ब्राह्मणों की रक्षा के लिए अपने प्राणों को छोड़ता है, वह सूर्यमण्डल को अतिक्रमण (भेद) कर परमगति को प्राप्त करता है ॥४५३॥

इति निश्चित्याऽभिहितम्—'भोः किराताः ! यद्येवं ततो मां पूर्वं निहत्य विलोकयत।' ततस्तैस्तथाऽनुष्ठिते तं धनरहितं [illegible]ऽपरे चत्वारोऽपि मुक्ताः। अतोऽहं ब्रवीमि—'पण्डितोऽपि वरं शत्रुः' इति।

ऐसा निश्चय कर उसने कहा—'हे भीलो ! यदि ऐसी बात है तो मुझे पहले मारकर देख लो।' तब उन्होंने वैसा करके उसे धनरहित देखकर शेष चारों को भी छोड़ दिया। इसी से मैं कहता हूँ—'विद्वान् शत्रु भी हो…'इत्यादि।

अथैवं संवदतोस्तयोः सञ्जीवकः क्षणमेकं पिङ्गलकेन सह युद्धं कृत्वा तस्य खरनखरप्रहाराभिहतो गतासुर्वसुन्धरापीठे निपपात। अथ तं गतासुमवलोक्य पिङ्गलकस्तद्गुणस्मरणार्द्रहृदयः प्रोवाच—'भोः ! अयुक्तं मया पापेन कृतं सञ्जीवकं व्यापादयता। यतो विश्वासघातादन्यन्नास्ति पापतरं कर्म। उक्तं च—

[illegible] वे दोनों ऐसा कह ही रहे थे कि सञ्जीवक एक क्षण तक पिङ्गलक के साथ यु[illegible]र, उसके तीक्ष्ण नख के प्रहार से घायल हो गया और प्राण रहित

हो, पृथ्वीपर गिर पड़ा। तब उसे मरा हुआ देखकर पिङ्गलक उसके गुणों को स्मरण कर आर्द्रचित्त होकर कहने लगा—'अरे! सञ्जीवक को मारकर मुझ पापी ने अनुचित कार्य किया! क्योंकि विश्वासघात से बढ़कर और कोई दूसरा पापकर्म नहीं है। कहा है—

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यश्च विश्वासघातकः।
ते नरा नरकं यान्ति यावच्चन्द्र-दिवाकरौ ॥४५४॥

जो मित्र-द्रोही, कृतघ्न, और विश्वासघात करनेवाले हैं वे मनुष्य जब तक सूर्य और चन्द्र स्थित हैं तब तक नरक में पड़े रहते हैं ॥४५४॥

भूमिक्षये राजविनाश एव भृत्यस्य [illegible] विनाशे।
नो युक्तमुक्तं ह्यनयोः [illegible] न भृत्याः ॥४५५॥

राज्य चले जाने पर अथवा बुद्धिमान् अनुचर के विनाश होनेपर राजा ही का नाश होता है। किन्तु यदि इन दोनों (भूमिक्षय और भृत्यनाश) की समानता की जाय तो यह उचित नहीं है; क्योंकि गया हुआ राज्य पुनः मिल सकता है, पर सुभृत्य नहीं मिल सकते ॥४५५॥

तथा मया सभामध्ये स सदैव प्रशंसितः। तत् किं कथयिष्यामि तेषामग्रे। उक्तं च—

और मैं भी उसकी सभा में सर्वदा प्रशंसा किया करता था। तो अब उन लोगों के आगे क्या कहूँगा? कहा है—

उक्तो भवति यः पूर्वं गुणवानिति संसदि।
न तस्य दोषो वक्तव्यः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा' ॥४५६॥

यदि कोई किसी के लिए सभा में पहले यह कहदे कि 'यदि गुणवान् है' तो फिर अपने पूर्व-वाक्य के असत्य होने की आशङ्का से बादमें उसके दोष को न कहे ॥४५६॥ *

एवंविधं प्रलपन्तं दमनकः समेत्य सहर्षमिदमाह—'देव! कातरतमस्तवैष न्यायो, यद्द्रोहकारिणं शष्पभुजं हत्वेत्थं शोचसि। तन्नैतदुपपन्नं भूभुजाम्। उक्तं च—

* (इसी तन्त्र का २९७ वाँ श्लोक देखिए।)

दमनक ने, इस प्रकार विलाप करते हुए (पिङ्गलक) के समीप जाकर, हर्ष युक्त हो यह कहा—'महाराज ! आपकी यह नीति कायरतापूर्ण है जो द्रोह करनेवाले तृणभोजी को मारकर इस प्रकार सोचकर रहे हैं। सो राजाओं के लिए यह उचित नहीं है। कहा है—

पिता वा यदि वा भ्राता पुत्रो भार्याऽथवा सुहृत्।
प्राणद्रोहं यदा गच्छेद्धन्तव्यो नास्ति पातकम् ॥४५७॥

चाहे पिता हो, भाई हो, पुत्र हो, स्त्री हो, अथवा मित्र हो, कोई इनमें से जब अपने प्राण लेने को [illegible] उन्हें मार डालने में कोई पाप नहीं लगता ॥

तथा च—

और भी—

राजा घृणी ब्राह्मणः सर्वभक्षी स्त्री चाऽत्रपा दुष्टमति सहायः।
प्रेष्यः प्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी त्याज्या अमी यश्च कृतं न वेत्ति ॥४५८॥

दया करनेवाला राजा, सर्व-भोजी (खाद्याखाद्य विचार रहित) ब्राह्मण, अत्रपा (निर्लज्जा) स्त्री, नीच बुद्धिवाला सहचर (साथी), प्रतिकूल (विरुद्ध) व्यवहार करनेवाला (अधिकारी) भृत्य, प्रमादी (लापरवाह) अध्यक्ष, और जो किए हुए उपकार को नहीं समझता (अर्थात् कृतघ्न)—ये सब त्याज्य हैं ॥४५८॥

अपि च—

और भी—

सत्याऽनृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चाऽर्थपरा वदान्या।
भूरिव्यया प्रचुरवित्तसमागमा च
वेश्याऽङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥४५९॥

जिस प्रकार वाराङ्गना (वेश्या) अनेक प्रकार का रूप धारण करती है, सत्य के समान मालूम होने पर वास्तविकता में वह असत्य पूर्ण होती है, मीठी बोल होने पर भी कठोर होती है, दया युक्त होने पर भी हिंसा से पूर्ण होती है, धन-

[illegible] जुगुप्साकृपयोः' इति मेदिनी।

लोलुप होने पर भी उदार मालूम होती है, बहुत धन दूहती रहने पर भी बहुत व्यय करनेवाली मालूम पड़ती है। ऐसी ही राजा की नीति भी बहुरूपिणी होनी चाहिए ॥४५९॥

अपि च—

और भी—

अकृतोपद्रवः कश्चिन्महानपि न पूज्यते।
पूजयन्ति नरा नागान् न तार्क्ष्यं नागघातिनम् ॥४६०॥

बिना उपद्रव किए (दूसरों को कष्ट दिये) बड़ा आदमी भी पूजित नहीं होता। जैसे मनुष्य सर्प की पूजा करते हैं, लेकिन सर्प को मारने वाले गरुड़ की नहीं पूजते ॥४६०॥

तथा च—

उसी प्रकार—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नाऽनुशोचन्ति पण्डिताः ॥४६१॥

जिनको सोच न करना चाहिए उसी के लिए तुम सोच कर रहे हो और बुद्धिमानों की तरह बातें कर रहे हो। क्योंकि जो विद्वान् (समझदार) होते हैं वे मरने और जीनेवालों के लिए सोच नहीं करते ॥४६१॥

एवं तेन सम्बोधितः पिङ्गलकः सञ्जीवकशोकं त्यक्त्वा दमनकसाचिव्येन राज्यमकरोत्।

इस प्रकार उसके समझाने पर पिङ्गलक सञ्जीवक के शोक को त्यागकर दमनक के मन्त्रित्व से राज्य करने लगा।

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे मित्रभेदो नाम प्रथमं तन्त्रं समाप्तम्।

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे श्रीमच्छास्त्रि-अभिमन्युकृत-भाषाटीकायां मित्रभेदो नाम प्रथमं तन्त्रं समाप्तम्।

पठनीय ग्रन्थरत्न

अलङ्कारसारमञ्जरी—म० म० पं० श्रीनारायणशास्त्रीखिस्तेकृत ।=)

काव्यमीमांसा—१-५ अध्याय, सं०टी०, भा०टी० पं० राजनारायण० १।)

चन्द्रालोक—सं० टी०, भा० टी०, पं० गौरीनाथ पाठक कृत २॥)

ध्वन्यालोक—१-२ उद्योत, सं०टी०, भा०टी०, पं० अखलदेव कृत २॥)

" —सम्पूर्ण " " " यन्त्रस्थ

अन्योक्तिसाहस्री—पं० श्रीबदरीनाथझा कृत ॥=)

उत्कीर्णलेखाञ्जलि—सं. टी., भा० टी०, श्रीजयचन्द्र [illegible] कृत ॥।)

नैषधीयचरितमहाकाव्य—[illegible] भा० टी०, [illegible] कृत ६)

मेघदूतकाव्यं—सञ्जीवनी-द[illegible] सहित, [illegible] श्रीभगवत्कृत १।)

रामवनगमन—सं० टी०, भा० टी०, पं० श्रीराजना[illegible]यणशास्त्रीकृत १।)

विदुलोपाख्यान—" " " " ॥=)

सावित्र्युपाख्यान—सं० टी० भा० टी०, पं० श्रीब्रह्मानन्दशुक्लकृत १।)

जातकमाला—सं० टी०, पं० बटुकनाथशास्त्रीखिस्ते कृत ३)

पालिजातकावलि—सं० अनु०, हिन्दी अनुवाद, पं० बटुकनाथशर्मा २॥)

हर्षचरित—प्रथम उच्छ्वास, सं०टी०, भा०टी०, पं० बटुकनाथशास्त्री १॥

हर्षचरितकथासारदीपिका—पं० श्रीब्रह्मानन्दशुक्लकृत ॥)

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक – सं० टी०, भा० टी०,

संस्कृत टीकाकार – म० म० पं० नारायणशास्त्री खिस्ते ।

हिन्दी अनुवादक—श्री मन्नालाल अभिमन्यु यन्त्रस्थ

प्रसन्नराघव नाटक—सं. टी., भा. टी., पं० रामचन्द्रमिश्रकृत ३)

मुद्राराक्षस नाटक—सं. टी., भा. टी., पं० ब्रह्मानन्दशुक्लकृत २।), ३)

मृच्छकटिक नाटक— " " " " ५), ६)

स्वप्नवासवदत्त नाटक— " " म० म० पं० नारायणशास्त्रीखिस्ते २॥)

प्राप्तिस्थान—**मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स,**

संस्कृत बुकडिपो, कचौड़ीगली, बनारस-१